विवेक-ज्योति

वर्ष ४१ अंक ११ नवम्बर २००३ मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)
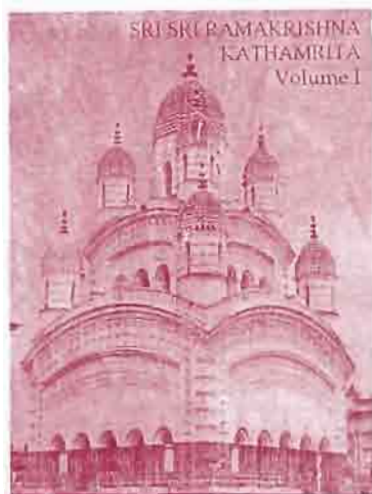
RECENTLY RELEASED

Sri Sri Ramakrishna Kathamrita

VOLUME I

in English

A word for word translation of original Bengali edition. Available as hardbound copy at subsidized price, **for Rs. 150.00 each.**

Also available:

HINDI SECTION

- **Sri Sri Ramakrishna Kathamrita** Vol. I to V Rs. 275 per set

  M. (Mahendra Nath Gupta), a son of the Lord and disciple, elaborated his diaries in five parts of 'Sri Sri Ramakrishna Kathamrita' in Bengali which were first published at Kathamrita Bhawan, Calcutta in the years 1902, 1905, 1908, 1910 and 1932 respectively. These are word for word translation in Hindi of the same.

- **Sri Ma Darshan** Vol. I to XVI Rs. 825 per set

  In this series of 16 volumes the reader is brought in close touch with the life and teachings of Sri Ramakrishna family: Thakur, Swamiji, Holy Mother, M., Swami Shivananda, Swami Abhedananda and others. And there is the elucidation according to Sri Ramakrishna's line of thought, of the Upanishads, the Gita, the Bible, the Holy Quran and other scriptures. The third speciality of this work is the ***commentary on the Gospel of Sri Ramakrishna by the author himself.***

ENGLISH SECTION

- M., the Apostle & the Evangelist Vol. I to X Rs. 900.00 per set
  (English version of Sri Ma Darshan)
- Sri Sri Ramakrishna Kathamrita Centenary Memorial Rs. 100.00
- Life of M. and Sri Sri Ramakrishna Kathamrita Rs. 150.00
- A Short Life of M. Rs. 25.00

For enquiries please contact:

SRI MA TRUST
Sri Ramakrishna Sri Ma Prakashan Trust
579, Sector 18-B, Chandigarh - 160 018 India
Phone: 91-172-77 44 60
email: SriMaTrust@bigfoot.com

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

नवम्बर २००३

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४१
अंक ११

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर

(हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९

अनुक्रमणिका

१. श्रीरामकृष्ण के दृष्टान्त – १३ ५०२
२. नीति-शतकम् (भर्तृहरि) ५०३
३. काली-स्तुति ('विदेह') ५०४
४. ज्ञान और अज्ञान (स्वामी विवेकानन्द) ५०५
५. धनुष-यज्ञ का तात्पर्य (1/१) (पं. रामकिंकर उपाध्याय) ५०७
६. चिन्तन-९३ (अनुशासन का महत्त्व) (स्वामी आत्मानन्द) ५१२
७. जीने की कला (२७) (स्वामी जगदात्मानन्द) ५१३
८. हितोपदेश की कथाएँ (१७) ५१७
९. स्वयं पर विश्वास (स्वामी सत्यरूपानन्द) ५२०
१०. मानवता की झाँकी (९) (स्वामी जपानन्द) ५२१
११. कविताएँ (नारायण बरसैंया, जितेन्द्र कुमार तिवारी) ५२३
१२. गीता का मर्म – ११ (गीता में साधना की रूपरेखा – २/१) (स्वामी शिवतत्त्वानन्द) ५२४
१३. स्वामी विवेकानन्द के प्रति (कविता) (कुमारी मनीषा) ५२७
१४. वैदिक देववाद : उद्भव और विकास (डॉ. सुचित्रा मित्रा) ५२९
१५. स्वामी ब्रह्मानन्द के संस्मरण (स्वामी पुरुषोत्तमानन्द) ५३२
१६. मन शान्त कैसे हो ? (स्वामी ज्ञानेश्वरानन्द) ५३५
१७. जीवन-शर्त, सूक्तियाँ (कविता) (पुरुषोत्तम नेमा) ५३९
१८. समाचार और सूचनाएँ ५४०

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

श्रीरामकृष्ण के दृष्टान्त – १३
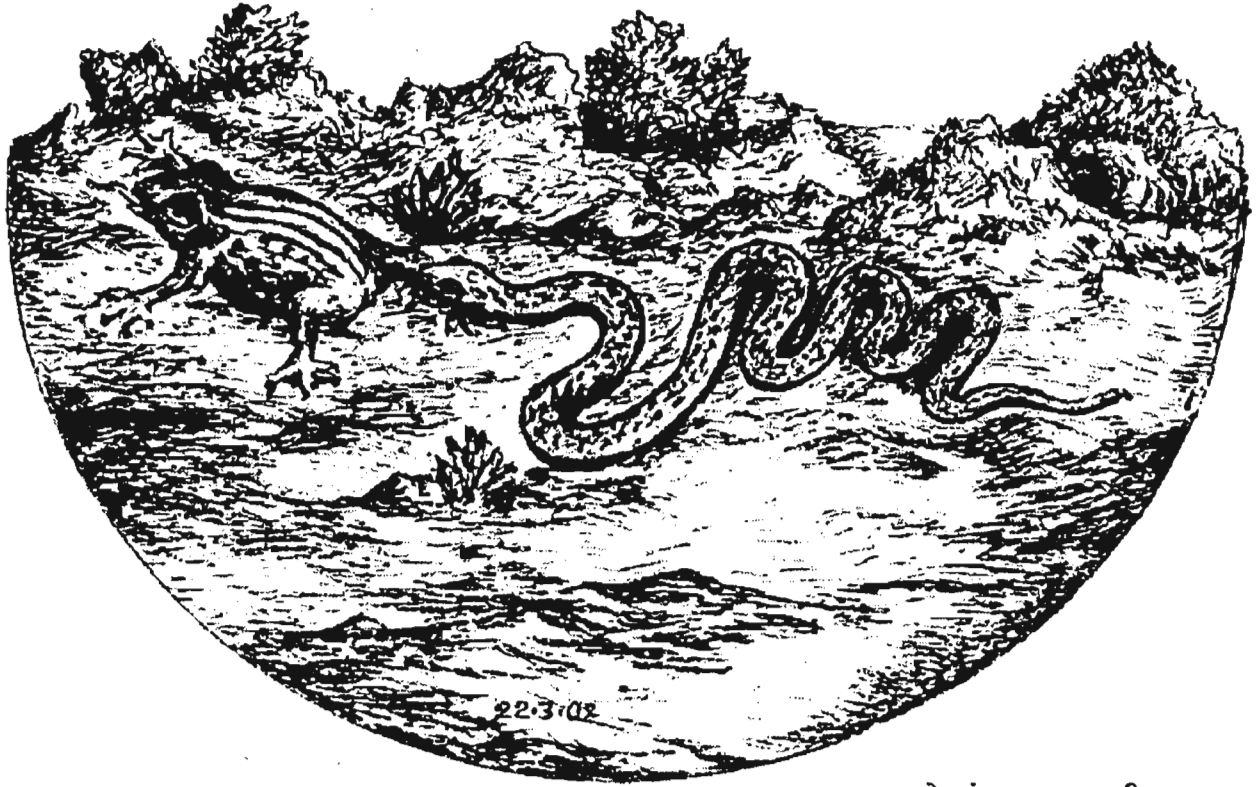
रेखांकन – स्वामी आप्तानन्द

सच्चे गुरु

''मनुष्य में वह शक्ति कहाँ कि वह दूसरे को संसार-बन्धन से मुक्त कर सके? यह भुवनमोहिनी माया जिनकी है, वे ही इस माया से मुक्त कर सकते हैं। सच्चिदानन्द गुरु को छोड़ और दूसरी गति नहीं है। जिसको ईश्वर-दर्शन नहीं हुआ, उनका आदेश नहीं मिला, जो ईश्वर की शक्ति से शक्तिशाली नहीं है, उसकी क्या मजाल कि जीवों का भव-बन्धन-मोचन कर सके?

''मैं एक दिन पंचवटी के निकट झाऊतल्ले की ओर जा रहा था। एक मेढ़क की आवाज सुनायी दी – जान पड़ा कि साँप ने पकड़ा है। काफी देर बाद जब लौटने लगा, तब भी उस मेढ़क की पुकार जारी ही थी। बढ़कर देखा तो दिखायी दिया की एक कौड़ियाला साँप उस मेढ़क को पकड़े हुए है – न छोड़ सकता है, न निगल सकता है। उस मेढ़क की भी भव-व्यथा दूर नहीं हो रही है। तब मैंने सोचा कि यदि कोई असल साँप पकड़ता तो तीन ही पुकार में इसको चुप हो जाना पड़ता, इसे कौड़ियाले ने पकड़ा है, इसीलिए साँप की भी दुर्दशा है और मेढ़क की भी!

''यदि सद्‌गुरु हो तो जीव का अहंकार तीन ही पुकार में दूर होता है। गुरु कच्चा हुआ तो गुरु की भी दुर्दशा है और शिष्य की भी। शिष्य का अहंकार दूर नहीं होता और न उसके भवबन्धन की फाँस ही कटती है। कच्चे गुरु के पल्ले पड़ा तो शिष्य मुक्त नहीं होता।''

नीति-शतकम्

नैवाकृतिः फलति नैव कुलं न शीलं
विद्यापि नैव न च यत्नकृतापि सेवा ।
भाग्यानि पूर्वतपसा खलु संचितानि
काले फलन्ति पुरुषस्य यथैव वृक्षाः ॥९६॥

अन्वयः - पुरुषस्य आकृतिः न एव फलति. न एव कुलम्, न शीलम्, विद्या अपि न एव, यत्नकृता सेवा अपि च न, पूर्वतपसा सञ्चितानि भाग्यानि खलु काले फलन्ति यथा एव वृक्षाः ।

भावार्थ – मनुष्य के लिए न तो उसका रूप, न कुल, न सदाचार, न विद्या और न यत्नपूर्वक की हुई सेवा ही फलदायी होती है, बल्कि उसके द्वारा पहले से की हुई तपस्या से संचित उसका भाग्य ही समय आने पर वृक्ष के समान फल प्रदान करता है।

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये
महार्णवे पर्वतमस्तके वा ।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा
रक्षन्ति पुण्यानि पुरा कृतानि ॥९७ ॥

अन्वयः - पुरा कृतानिपुण्यानि वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये महार्णवे पर्वतमस्तके वा सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा (नरं) रक्षन्ति ।

भावार्थ – घोर वन में, युद्धक्षेत्र में, शत्रुओं-जल या अग्नि से घिरे रहने पर, महासागर में या पर्वत की चोटी पर, निद्रा-उन्मत्त अथवा संकट की अवस्था में, पहले के किए हुए पुण्य ही मनुष्य की रक्षा करते हैं।

- भर्तृहरि

काली-स्तुति

– १ –

(मारूबिहाग – कहरवा)

जीवन के संग्राम क्षेत्र में, नाच रही माँ कालिका,
नरमुण्डों का ढेर लगा है,
ज्यों ऊँची अट्टालिका ।।

महाऽवेश में नेत्र चमकते, पग-नख ज्यों नक्षत्र दमकते,
रखती है पग, हिल उठता जग,
ना साधारण बालिका ।।

खप्पर और कृपाण लिये कर, पाँव तले लेटे हैं शंकर,
रक्तपान करती असुरों का,
कला-चन्द्रमा भालिका ।।

वरा-अभयकर हाथ उठाये, त्रिविध ताप अज्ञान मिटाये,
कृपादृष्टि से कटता बन्धन,
शरणागति की पालिका ।।

– २ –

(पीलू – कहरवा)

मनवा, काली काली कहना,
माँ की स्नेहसुधा-धारा में, तैर नहीं, बस बहना ।।

नहीं किसी से राग-द्वेष हो,
ना तुझसे जग को कलेश हो,
धीरज के संग इस जीवन के,
दुख-सुख सारे सहना ।।

विषयी जन का संग छोड़कर,
भक्ति-भजन से चित्त जोड़कर,
अब से तू बस सदा-सर्वदा, सत्संगति में रहना ।।

– *विदेह*

ज्ञान और अज्ञान

स्वामी विवेकानन्द

तुम स्वभाव से ही मुक्त हो, तुम स्वभाव से ही पवित्र हो। यदि तुम अपने को मुक्त समझ सको, तो तुम इसी क्षण मुक्त हो जाओगे और यदि तुम अपने को बद्ध समझो, तो तुम बद्ध ही रहोगे। यह बड़ी ही स्पष्ट उक्ति है...। इस समय यह शायद तुम्हें भयभीत कर दे, पर जब तुम इस पर चिन्तन करोगे और अपने जीवन में इसका अनुभव करोगे, तब देखोगे कि मेरी बात सत्य है। कारण, यदि मुक्त भाव तुम्हारा स्वभाव-सिद्ध न हो, तब तो किसी भी प्रकार तुम मुक्त न हो सकोगे। यदि तुम मुक्त थे और इस समय किसी कारण से उस मुक्त स्वभाव को खोकर बद्ध हो गये हो, तो इससे प्रमाणित होता है तुम आरम्भ में ही मुक्त नहीं थे। यदि मुक्त थे, तो किसने तुम्हें बद्ध किया?

आकाश में रंग-बिरंगे तरह तरह के मेघ आ रहे हैं। वे क्षण भर वहाँ ठहरकर चले जा रहे हैं, परन्तु एक नील आकाश निरन्तर सम भाव से विद्यमान है। आकाश में कदापि परिवर्तन नहीं होता, मेघ में परिवर्तन हो रहा है। इसी प्रकार तुम सभी पहले से ही पूर्ण हो, अनन्त काल से पूर्ण हो। कुछ भी तुम्हारे स्वरूप को कभी परिवर्तित कर नहीं सकता, कभी करेगा भी नहीं। यह सब जो धारणा है कि हम अपूर्ण हैं, हम नर हैं, हम नारी हैं, हम पापी हैं, हम मन हैं, हमने विचार किया है और करेंगे – यह सब भ्रम मात्र है। तुम कदापि विचार नहीं करते, तुम्हारी किसी काल में देह नहीं थी, तुम किसी काल में अपूर्ण नहीं थे।

तुम्हीं सबके भीतर विद्यमान हो, तुम्ही सर्वस्वरूप हो। किसे त्याग करोगे, अथवा ग्रहण भी भला किसे करोगे? – तुम्हीं तो समग्र हो! जब इस ज्ञान का उदय होता है, तब माया-मोह उसी क्षण उड़ जाता है।

देश-काल-निमित्त – ये सभी भ्रम हैं। तुम सोचते हो कि मैं बद्ध हूँ, मुक्त होऊँगा – यह तुम्हारा रोग है। तुम अपरिणामी हो। बातें करना छोड़ दो, चुप होकर बैठे रहो – सभी वस्तुएँ तुम्हारे सामने से उड़ जायँ – वे सब स्वप्न मात्र हैं। पार्थक्य या भेद नामक कोई वस्तु नहीं है, वह सब तो अन्धविश्वास मात्र है। अतएव मौन भाव का अवलम्बन करो और अपने स्वरूप को पहचान लो।

किसी से भय मत करना। जो कुछ भी अस्तित्व में है, तुम उसके सार-स्वरूप हो। शान्ति में रहो – अपने को परेशान मत करो। तुम कभी बद्ध नहीं हुए। पुण्य या पाप तुम्हें स्पर्श नहीं करता। इन सभी भ्रमों को दूर कर दो और शान्ति में रहो। किसकी उपासना करोगे? उपासना भी कौन करेगा? सभी तो आत्मा हैं। कोई बात कहना या किसी तरह की चिन्ता करना अन्धविश्वास है। बारम्बार कहो – "मैं आत्मा हूँ, मैं आत्मा हूँ।" बाकी सब कुछ उड़ जाने दो।

अज्ञान ही इन सारे बन्धनों का कारण है। हम अज्ञान के कारण ही बँधे हुए हैं। ज्ञान से अज्ञान दूर होगा और यह ज्ञान ही हमें उस पार ले जायगा। तो इस ज्ञानप्राप्ति का उपाय क्या है? – **प्रेम और भक्ति से, ईश्वरोपासना से और सर्वभूतों को परमात्मा का मन्दिर समझकर उनसे प्रेम करने से ज्ञान होता है।** इस प्रकार अनुराग की प्रबलता से ज्ञान का उदय होगा और अज्ञान दूर होगा, सारे बन्धन टूट जायँगे और आत्मा मुक्त हो जायेगी।

मानव-जीवन नाना प्रकार के विपरीत भावों से ग्रस्त होने के कारण असामंजस्यपूर्ण है। इस असामंजस्य में कुछ सामंजस्य तथा सत्य प्राप्त करने के लिए हमें युक्ति-तर्क के परे ज़ाना होगा। पर वह धीरे धीरे करना होगा, हमे नियमित साधना के द्वारा ठीक वैज्ञानिक उपाय से उसमें पहुँचना होगा, और सारे अन्धविश्वास भी छोड़ देने होंगे। अन्य कोई विज्ञान सीखंते समय जैसा हम लोग करते हैं, इस अतिचेतन या समाधि अवस्था के अध्ययन के लिए ठीक उसी धारा का अनुसरण करना होगा। युक्ति-तर्क को ही अपनी नींव बनाना होगा। युक्ति-तर्क हमें जितनी दूर ले जा सकता है, हम उतनी दूर जायँगे और जब युक्ति-तर्क नहीं चलेगा, तब वही हमें उस सर्वोच्च अवस्था की प्राप्ति का रास्ता दिखला देगा।

आज का सबसे बड़ा प्रश्न है – यदि ज्ञात और ज्ञेय जगत् का आदि और अन्त, अज्ञात तथा अनन्त अज्ञेय द्वारा सीमाबद्ध है, तो उस अनन्त अज्ञात के लिए हम प्रयास ही क्यों करें? क्यों न हम ज्ञात जगत् में ही सन्तुष्ट रहें? क्यो न हम खाने, पीने और संसार की थोड़ी-सी भलाई करने में ही सन्तुष्ट रहें? ये प्रश्न प्राय: सुनने को मिलते हैं। विद्वान् प्राध्यापक से लेकर तुतलाते बच्चे तक हमसे कहते हैं, "संसार की भलाई करो; यही सारा धर्म है; इसके परे क्या है, इससे सम्बन्धित प्रश्नों से व्यर्थ स्वयं को परेशान मत करो।" यह बात इतनी चल पड़ी है कि इसने एक स्थिर सिद्धान्त का रूप ले लिया है।

परन्तु सौभाग्यवश हम अनन्त के बारे में जिज्ञासा किये बिना नहीं रह सकते। वर्तमान व्यक्त है और अव्यक्त का एक

अंश मात्र है । यह इन्द्रिय-ग्राह्य जगत् उस अनन्त आध्यात्मिक जगत् का एक नन्हा-सा अंश मात्र है, जो इन्द्रियों की चेतना के स्तर पर प्रक्षेपित है । अत: उस अनन्त विस्तार को समझे बिना यह नन्हा-सा प्रक्षेपित भाग कैसे समझा जा सकता है?

कान्ट ने असन्दिग्ध रूप से प्रमाणित किया कि हम युक्ति-तर्करूपी दुर्भेद्य दीवार का अतिक्रमण कर उसके पार नहीं जा सकते। पर भारत में तो समस्त विचारधाराओं की मूल बात है – युक्ति के पार चले जाना। योगीगण बड़े साहस के साथ इस राज्य की खोज में प्रवृत्त होते हैं और अन्त में एक ऐसी अवस्था को पाने में सफल होते हैं, जो समस्त युक्ति-तर्क के परे है और केवल उसी में हमारी वर्तमान परिदृश्यमान अवस्था का स्पष्टीकरण मिलता है । उसके अध्ययन से यही लाभ है कि यह हमें जगत् के परे ले जाता है । **त्वं हि नः पिता योऽस्माकम् अविद्यायाः परं पारं तारयसि** – "तुम हमारे पिता हो, तुम हमें अज्ञान के उस पार ले जाओगे।" (प्रश्नोपनिषद् ६/८)। यही धर्म-विज्ञान है, और कुछ भी नहीं।

कोई नहीं कह सकता कि धर्म क्यों यह दावा करते हैं कि उनका तर्क द्वारा परीक्षण न किया जाय। तर्क के मापदण्ड के बिना – धर्म के विषय में भी – किसी भी तरह का सच्चा निर्णय नहीं दिया जा सकता। कोई धर्म कुछ बीभत्स करने की आज्ञा दे सकता है । यथा इस्लाम मुसलमानों को विधर्मियों की हत्या करने की आज्ञा देता है । कुरान में स्पष्ट लिखा है, "यदि विधर्मी इस्लाम ग्रहण न करें, तो उन्हें मार डालो। उन्हें तलवार और आग के घाट उतार दो।" अब यदि हम किसी मुसलमान से कहें कि यह गलत है, तो वह सहज ही पूछेगा, "तुम कैसे जानते हो कि यह अच्छा है या बुरा? हमारा शास्त्र तो कहता है कि यह सत्कार्य है।" यदि तुम कहो कि हमारा शास्त्र प्राचीन है, तो बौद्ध कहेंगे कि उनका शास्त्र तुम्हारे से भी पुराना है और हिन्दू कहेंगे कि उनका शास्त्र सबसे प्राचीनतम है। अत: शास्त्र की दुहाई देने से काम नहीं चल सकता। वह मापदण्ड कहाँ है, जिससे तुम अन्य सबकी तुलना कर सको? तुम कहोगे – ईसा का 'शैलोपदेश' देखो; मुसलमान कहेंगे, 'कुरान का नीतिशास्त्र' देखो। मुसलमान कहेंगे – कौन निर्णय करेगा कि इन दोनों में कौन-सा श्रेष्ठ है? कौन मध्यस्थ बनेगा? बाइबिल और कुरान में जब विवाद हो, तो यह निश्चय है कि उन दोनों में से तो कोई मध्यस्थ नहीं बन सकता। कोई अलग व्यक्ति उनका मध्यस्थ हो तो अच्छा हो। यह कार्य किसी ग्रन्थ द्वारा नहीं हो सकता, किसी सार्वभौमिक तत्त्व द्वारा ही हो सकता है। बुद्धि से अधिक सार्वभौमिक पदार्थ और कोई नहीं है। कहा जाता है, बुद्धि पर्याप्त शक्तिसम्पन्न नहीं है, इससे सत्य की प्राप्ति में सदैव सहायता नहीं मिलती। प्राय: वह भूलें करती है, अत: हमें किसी न किसी धर्मसंघ की प्रामाणिकता में विश्वास करना चाहिए – ऐसा मुझसे एक बार एक रोमन कैथलिक ने कहा था। परन्तु यह युक्ति मुझे नहीं पटी। मैं कहूँगा कि यदि बुद्धि दुर्बल है, तो पुरोहित-सम्प्रदाय और भी दुर्बल होंगे। मै उन लोगों की बात सुनने की अपेक्षा बुद्धि की बात सुनना अधिक पसन्द करूँगा, क्योंकि बुद्धि मे चाहे जितने भी दोष क्यों न हो, उससे कुछ-न-कुछ सत्यलाभ की सम्भावना तो है, किन्तु दूसरी ओर तो किसी सत्य को पाने की आशा ही नहीं है।

प्रश्न यह उठ सकता है कि यह सारी विविधता कैसे सत्य हो सकती है? एक चीज सत्य होने पर, उसका विपरीत गलत होगा। एक ही समय दो विरोधी मत किस प्रकार सत्य हो सकते हैं? मैं इसी प्रश्न का उत्तर देना चाहता हूँ। उसके पहले मैं एक बात तुमसे पूछता हूँ कि पृथ्वी के धर्म क्या सचमुच परस्पर विरोधी हैं? मेरा आशय उन बाह्याचारों से नहीं है, जिनमें महान् विचार आवेष्टित हैं। मेरा आशय विविध धर्मों में व्यवहृत देवालय, भाषा, कर्मकाण्ड, शास्त्र आदि की विविधता से नहीं है। मैं तो प्रत्येक धर्म के भीतर की आत्मा की बात कहता हूँ। प्रत्येक धर्म के पीछे एक आत्मा है और एक धर्म की आत्मा अन्य धर्म की आत्मा से पृथक् हो सकती है; परन्तु इसलिए क्या वे परस्पर विरोधी हैं? प्रश्न यह है कि क्या वे परस्पर विरोधी हैं या एक दूसरे के पूरक हैं? मैं जब निरा बालक था, तभी से इस प्रश्न पर मैंने विचार आरम्भ किया है और सारे जीवन इस पर सोचता रहा हूँ। सम्भव है कि मेरे निष्कर्षों से तुम्हारा भी भला हो, इसी कारण मैं उसे तुम्हारे समक्ष प्रस्तुत करता हूँ। मेरा विश्वास है कि वे परस्पर विरोधी नहीं हैं; वरन् एक-दूसरे के पूरक हैं। प्रत्येक धर्म मानो महान् सार्वभौमिक सत्य के एक एक अंश को रूपयित करके प्रस्फुटित करने के लिए अपनी पूरी शक्ति लगा देता है। इसलिए यह योगदान का विषय है – वर्जन का नहीं, यही समझना होगा। एक एक महान् भाव को लेकर सम्प्रदाय-पर-सम्प्रदाय गठित होते रहते हैं; आदर्शों में आदर्श जुड़ते जाते हैं। इसी प्रकार मानव-जाति उन्नति की ओर अग्रसर होती रहती है। मनुष्य कभी भ्रम से सत्य में उपनीत नहीं होता है, बल्कि सत्य से ही सत्य में गमन करता है – निम्नतर सत्य से उच्चतर सत्य पर आरूढ़ होता है – परन्तु भ्रम से सत्य में नहीं।

❑❑❑

धनुष-यज्ञ का तात्पर्य (१/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा जनवरी २००२ ई. में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोह के समय पण्डितजी ने 'धनुष-यज्ञ' पर ८ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके प्रथम प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक हैं। – सं.)

धनुष-यज्ञ के समारोह में सारे विश्व के राजा-महाराजा एकत्र हुए हैं और महर्षि विश्वामित्र के आदेश पर भगवान श्रीराम भी अपने अनुज लक्ष्मणजी के साथ आए हुए हैं। सभा के मध्य में एक विशाल धनुष रखा हुआ है। जब सभी अपने अपने आसन पर विराजमान हो जाते हैं, तब महाराज जनक की ओर से उनके बन्दीजन सूचना देते हैं – "सामने भगवान शिव का जो प्रख्यात धनुष रखा हुआ है, उसे जो व्यक्ति उठाकर तोड़ देगा, वह त्रिभुवन का विजेता माना जाएगा और जनकनन्दिनी उसका वरण करेंगी।" वहाँ बैठे हुए अधिकांश राजा प्रयत्न करते हैं, पर उस धनुष को तोड़ पाना तो दूर, वे उसे उठा पाना तो दूर, हिला तक नहीं पाते। तब दस हजार राजा एक साथ मिलकर सम्मिलित प्रयास करते हैं, तो भी धनुष अपने स्थान पर अडिग ही रहा।

देखकर महाराजा को बड़ी निराशा हुई और वे बोले – मैंने तो अपनी कन्या के लिए योग्य वर पाने के लिए यह प्रतिज्ञा की थी कि जो इस धनुष को तोड़ देगा उसे ही मैं कन्या अर्पित करूँगा, पर मुझे क्या पता था कि विश्व में ऐसा कोई वीर ही नहीं है। सब हमारी इस दिव्य रूप-गुणमयी कन्या को पाने की इच्छा से आए हैं, पर मैं सोच भी नहीं सकता था कि इनमें से कोई भी इस धनुष को तोड़ने में सक्षम नहीं होगा। आज यह स्पष्ट हो गया कि यह पृथ्वी वीरों से खाली हो गयी है। जनक जी की इस निराशा और खेदजनक वाणी को सुन रामानुज श्री लक्ष्मण तम-तमाकर उठ खड़े होते हैं और बड़े कठोर शब्दों में जनकजी की भर्त्सना करते हुए कहते हैं – "अन्य किसी ने यदि ऐसा कहा होता, तो हमें इतना बुरा नहीं लगता, लेकिन महाराज जनक जैसे ज्ञानी अगर ऐसी बात कहें, तब तो यह मेरे लिए असह्य है।" फिर बोले – "प्रभो, यदि आज्ञा दें, तो मैं इस धनुष को लेकर दौड़ते हुए सौ योजन तक चला जाऊँ और मूली की भाँति बड़ी आसानी से तोड़ दूँ।" लक्ष्मणजी की यह ओजमयी वाणी सुनकर जनकजी लज्जित हो गये, पर जनकनन्दिनी सीताजी को बड़ी प्रसन्नता हुई और मुनियों के आनन्द की तो कोई सीमा ही न रही।

भगवान श्रीराम ने संकेत किया और लक्ष्मणजी बैठ गए। उसके पश्चात् महर्षि विश्वामित्र श्रीराम की ओर देखते हैं और आज्ञा देते हैं – "राम! उठो, इस धनुष को तोड़ो। अभी तक तो यह कहा जा रहा था कि इस धनुष को तोड़ने पर कीर्तिलाभ होगा और जनकनन्दिनी सीताजी से विवाह होगा, पर इस दृष्टि से मैं नहीं कहूँगा कि तुम धनुष तोड़ दो। मैं तो इसलिए कह रहा हूँ कि जनक जैसे ज्ञानी और मिथिला के लोग बड़े दुखी हो रहे हैं, उनके दुख को मिटाने हेतु तुम धनुष को तोड़ो।"

उठहुँ राम भंजहु भव चापा।
मेटहु तात जनक परितापा।। १/२५४/६

महर्षि का आदेश पाकर भगवान जब खड़े होते हैं, गुरु के चरणों में प्रणाम करते हैं और धनुष की ओर प्रस्थान करते हैं, तो गोस्वामीजी ने वहाँ पर एक शब्दचित्र प्रस्तुत किया है। वह शब्दचित्र अपने आपमें बड़ा अद्‌भुत और अनोखा है। वहाँ प्रयुक्त हुआ शब्द 'मानस' में बहुत कम मिलता है। यह शब्द, जो इस चौपाई की पहली पंक्ति में मिलता है – महर्षि विश्वामित्र की आज्ञा पाकर भगवान श्रीराम सहज भाव से खड़े हो गए। आदेश को सुनकर उनके मन में न तो किसी तरह का हर्ष हो रहा है, न विषाद। वे गुरुदेव के चरणों में प्रणाम करके धनुष की ओर चल पड़ते हैं। प्रसंग बड़ा अद्‌भुत और अनोखा है। जैसे प्राथमिक कक्षा में विद्यार्थी को जो अर्थ बताया जाता है, वह उसी को यथार्थ मानता है, पर उच्चतर कक्षाओं में उसका जो अर्थ बताया जाता है वह भी ठीक है और आगे और भी न जाने कितने अर्थ हो सकते हैं, वैसे ही यह प्रसंग भी अनेकानेक अर्थों से भरा हुआ है। 'मानस' में एक वाक्य है –

अरथु अमित अति आखर थोरे।। २/२९४/२

शब्द कम होने पर भी उसके अर्थ असीम हैं। यद्यपि यह वाक्य श्री भरत के सन्दर्भ में कहा गया है, पर वस्तुतः यह विशेषता तो पूरे 'मानस' की भाषा की ही है। जब कोई व्यक्ति बोलता है, तो उसके शब्दों का आप वही अर्थ लगाते हैं, जो या तो शब्दकोश में है या जो आपको बताया गया है। आपने विद्यालय में शिक्षा प्राप्त की है, वहाँ आपको बताया गया है कि किस शब्द का क्या अर्थ है? उसी को आपने पुस्तकों में भी पाया। ऐसी स्थिति में जब आपने शब्दकोश में तथा विद्यालय में अध्यापक के द्वारा जो अर्थ सुना उसी को आप सही मानते हैं और व्यवहार में उसी का प्रयोग करते हैं। लेकिन यह तो शब्दों का एक व्यावहारिक रूप है। वस्तुतः 'मानस' में जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है, उनका अर्थ केवल

वही नहीं है जो शब्दकोश में मिलता है। उनके तो अनेक अर्थ हैं। आप जिस मनोभूमि में हैं, अर्थ-ग्रहण करने की आपकी जो बौद्धिक क्षमता है, आपके चित्त में जो संस्कारजन्य धारणा है, उसके अनुकूल ही आपको उसके अर्थ का अनुभव होगा, और वही अर्थ लेना भी चाहिए। यह प्रसंग सभी अर्थों में परिपूर्ण है। यदि इसे **व्यावहारिक** दृष्टि से देखें तो भी और आगे बढ़कर **आधिदैविक** दृष्टि से इस पर विचार करें, तो भी यह सार्थक है। आगे चलकर यदि आप **आध्यात्मिक** दृष्टि से इसके अर्थ का चिन्तन करें, तो अर्थ और भी अद्भुत है।

'रामचरित-मानस' एक ग्रन्थ है और उसके आराध्य हैं श्रीराम। बहुधा श्रीराम के व्यावहारिक गुणों की चर्चा की जाती है। वैसे तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि जैसी विलक्षणता भगवान राम के चरित्र, गुण तथा शील में है, वैसा विश्व के इतिहास में किसी अन्य में नहीं है –

नीति प्रीति परमारथ स्वारथु।
कोउ न राम सम जान जथारथु।। २/२५३/५

पर श्रीराम केवल एक बड़े गुणवान व्यक्ति मात्र नहीं हैं। इससे आगे यदि 'मानस' में श्रीराम के विषय में उनके अन्तर स्वरूप को समझना चाहें, तो आप यह देखेंगे कि रामकथा सुनाने के पहले वक्तागण ध्यान करते हैं। वक्ता अपनी अपनी क्षमता के अनुकूल ध्यान करते हैं। पर भगवान शंकर जब भगवती पार्वती के प्रश्न के उत्तर में रामकथा कहने बैठते हैं, तो उस समय रामकथा के पहले आपको वह पंक्ति मिलती है, कि शंकर जी भगवान राम के ध्यान में डूब गए – कथा के पूर्व जब वे भगवान के ध्यान-रस में सराबोर हो जाते हैं, तब उनकी वाणी के द्वारा भगवान राम का चरित्र नि:सृत होता है –

मगन ध्यानरस दंड जुग पुनि मन बाहेर कीन्ह।
रघुपति चरित महेस तब हरषित बरनै लीन्ह।।१/१११

तात्पर्य यह कि यदि चरित्र की दृष्टि से आप राम के चरित्र पर दृष्टि डालें, तो भी वह परम कल्याणकारी है, किन्तु श्रीराम केवल राजनेता या समाज-सुधारक मात्र नहीं हैं। **राम हमारे लिए साक्षात् ब्रह्म हैं**, ईश्वर हैं। ऐसी स्थिति में आप उनके गुणों को पढ़कर बड़े गद्‌गद हों, यह बड़ा स्वाभाविक है, होना ही चाहिए, लेकिन वस्तुत: राम तो ध्यानगम्य हैं। राम के ध्यान का वास्तविक अर्थ यह है कि **राम का वर्णन केवल वाणी का विषय नहीं है, ध्यान के द्वारा ही उसके रस का बोध किया जाता है।** ध्यान के रस में डूबकर राम की कथा सामने आनी चाहिए। इस प्रकार यह राम का एक चरित्र है, जो अनुकरण करने योग्य है और दूसरी ओर राम ध्यान करने योग्य हैं। इसीलिए भक्तों के द्वारा सर्वत्र भगवान राम के ध्यान का वर्णन आता है। भक्त-शिरोमणि काकभुशुण्डि जी सुमेरु पर्वत पर निवास करते हैं। वे वहाँ पर वट-वृक्ष के नीचे बैठकर रामकथा सुनाते हैं –

बर तर कह हरि कथा प्रसंगा।
आवहिं सुनहिं अनेक बिहंगा।। ७/५७/७
वट पीपर पाकरी रसाला। ७/५५/९

लेकिन उस पर्वत पर केवल एक ही वृक्ष नहीं है, वहाँ चार वृक्ष हैं। उनमें से रसाल या आम का पेड़ के नीचे बैठकर कागभुशुण्डि जी मानस-पूजा पूजा करते हैं और और ध्यान का वर्णन करते हुए कहा गया –

पीपर तरु तर ध्यान सो धरई।
जाप जग्य पाकरि तर करई।।
आँब छाँह कर मानस पूजा।
तजि हरि भजनु काज नहीं दूजा।।
बर तर कह हरिकथा प्रसंगा।
आवहिं सुनहि अनेक बिहंगा।। ७/५६/५-७

एक वृक्ष के नीचे बैठकर वे भगवान के नाम का जप करते हैं। दूसरे वृक्ष के नीचे बैठकर ध्यान करते हैं, तीसरे वृक्ष के नीचे बैठकर वे प्रभु की मानसी पूजा करते हैं और उसके अन्तराल में जो वट-वृक्ष है, उसके नीचे बैठकर भगवान राम की कथा सुनाते हैं। इस प्रकार वहाँ पर जप, ध्यान, ध्यान के साथ मानस-पूजा और रामकथा का वर्णन किया गया है।

इसका अर्थ है कि श्रीराम का अनुकरण यदि कोई बाहर से करने को प्रयास करे, तो वह कर नहीं सकता। आप भगवान राम का चरित्र बार बार पढ़ते हैं, सुनते हैं, कैसे वे पिता के भक्त थे, कैसे भाइयों से प्रेम करते थे, पर क्या हमारे जीवन में राम के जैसी पितृभक्ति आई? भरत से जैसा वे प्रेम करते हैं वैसा भ्रातृप्रेम क्या हमारे जीवन में आ गया? इसका अर्थ है कि आप उनके चरित्र को सुनते हैं, आपको अच्छा लगता है, पर उसे आप अपने जीवन में उतार नहीं पाते। अत: केवल कहने-सुनने से नहीं, हमें यह समझना चाहिए कि इसका एक भावनात्मक रूप है, जिसका अनुभव भगवान राम के ध्यान करने पर होता है। केवल सुनना ही नहीं, सुनने के साथ ध्यान अपने आप जुड़ा हुआ है। आपने भगवान राम का चरित्र सुना और सुनने के बाद उनका ध्यान किया, अब ध्यान का क्या फल होता है, वह आपको 'मानस' में अलग अलग प्रसंगों में प्राप्त होगा, परन्तु ध्यान के बाद भी भगवान श्रीराम के लिए एक और शब्द का प्रयोग किया गया, और वह शब्द है –

ग्यान गम्य जय रघुराई।। १/२११/छं.२

ज्ञान क्या है? श्रीराम कौन हैं? क्या वे एक व्यक्ति हैं, एक राजा हैं, इतिहास के अनेक व्यक्तियों में से क्या वे एक व्यक्ति हैं? ध्यान में आपको श्रीराम के तत्त्व का ज्ञान होता है। इसलिए कहा गया, कथा-श्रवण मन की वस्तु है। जब आप ध्यान करेंगे तो कथा-श्रवण के साथ साथ आपको हृदय मे भी भाव-रस का संचार करना पड़ेगा। उसके बाद उसका तत्त्व-ज्ञान। अर्थात् वस्तुत: श्रीराम कौन हैं? आपको श्रीराम का

ज्ञान होना चाहिए। इसीलिए बार बार कहा गया कि श्रीराम को सुनना अच्छा है, उनका ध्यान करना और भी अच्छा है, पर उनको जानना? बस, यह जानना ही सबसे कठिन है। इसीलिए गोस्वामीजी बार बार यही कहते हैं कि **सब कुछ जान लेने के बाद भी जिसने राम को नहीं जाना तो क्या जाना?** कवितावली रामायण में उन्होने यही कहा, उनकी पंक्ति में ये शब्द आते हैं – किसी व्यक्ति के गुणों की प्रशंसा सुनकर उन्होंने कहा कि इतने गुण होते हुए भी यदि उसने श्रीराम को नहीं जाना, तो उससे क्या लाभ? इसका अर्थ यही है कि सुनते तो सभी लोग हैं, रामलीला में तो आप सभी देखते हैं, पर कवितावली में गोस्वामीजी का यह जो पद है, उसमें जो शब्द हैं, उसे पढ़कर, सुनकर लगता है कि यह तो कवि की अतिशयोक्ति है। पर आप उसे केवल कविता न मान लीजिए। गोस्वामीजी इस बात को बार बार कहते हैं, उसे आप उस दृष्टि से देखें, उस पर गहराई से विचार करें। वह कविता आपने सुनी होगी, उसे आप कवितावली रामायण में पढ़ सकते हैं। वहाँ गोस्वामीजी कहते हैं – "कोई व्यक्ति काम के समान सुन्दर, सूर्य के समान तेजस्वी, हरिश्चन्द्र के समान सत्यवादी व दानी लोमश के जैसे दीर्घजीवी और शुकदेव के जैसा मुनि व वक्ता है, परन्तु –

काम से रूप, प्रताप दिनेसु से
सोमु से सील, गनेसु से माने।
हरिचंदु से साँचे, बड़े विधि से
मघवा से महीप, बिषै मुख साने।।
सुक से मुनि, सारद से बकता
चिर जीवन लोमस ते अधिकाने।
ऐसे भए तौ कहा तुलसी,
जो पै राजीव-लोचन रामु न जाने।। कविता. ४३

और इतना सब होने के बाद भी अन्त में वे असंशय भाव से कहते है कि यदि उसने राजीवलोचन श्रीराम को नही जाना, तो वह सब होना निरर्थक है।

यह जानना ही अन्तिम वस्तु है। पर जानने की अभिलाषा तो बहुत कम लोगों के हृदय में होती है। अधिकांश लोग तो रामायण की घटनाओं को पढ़ते मात्र हैं। वह भी लाभकारी है, परन्तु उससे अधिक रस आप भाव या ध्यान में पायेंगे। पर इसके और भी अन्तरंग में प्रवेश करके **श्रीराम का ज्ञानमय रूप जान लेने पर सारी समस्याएँ समाप्त हो जाती हैं** और जीवन में उस पूर्णता या ब्रह्म से एकत्व की अनुभूति होती है।

इस बात को मैंने इसलिए कहा कि यह प्रसंग रामायण के ऐसे प्रसंगों में से एक प्रसंग है जिसमें सब कुछ है। विशेष कर ये पंक्तियाँ प्रारम्भ में कहीं गई, उस ओर मैं आपका ध्यान आकृष्ट करूँगा। उन पंक्तियों को तो बिना आध्यात्मिक दृष्टि के आप समझ ही नहीं सकते।

एक शब्द तो यह है कि श्रीराम गुरुदेव की आज्ञा होने के पूर्व नहीं उठे। यद्यपि जनकनन्दिनी सीता के प्रति उनका जो परम अनुराग है, इसका वर्णन गोस्वामी जी पुष्प-वाटिका-प्रसंग में कर चुके हैं। गुरु के कहने के बाद ही उठकर खड़े हुए, गोस्वामीजी एक शब्द और जोड़ देते हैं। वह शब्द है –

ठाढ़े भये उठि सहज सुभाएँ। १/२५४/८

खड़े नहीं हुए, सहज भाव से खड़े हुए। और जब धनुष तोड़ने के लिए चलते हुए दिखे, तो गोस्वामीजी ने पुनः वही शब्द दुहराया। चले तो भी बिल्कुल सहज भाव से चले –

सहजहिं चले सकल जग स्वामी। १/२५५/५

सहज भाव से उठे, सहज भाव से चले, पर उससे भी अधिक एक अद्भुत प्रसंग पर आपका ध्यान जाना चाहिए; अन्य प्रसंगो से इस प्रसंग में एक बहुत बड़ी भिन्नता है, हमारे ग्रन्थों में यात्रा के समय होनेवाले शकुन और अपशकुन का वर्णन आता है। यात्रा के समय कौन-सी वस्तु मिले तो शकुन है और कौन-सी वस्तु मिले तो अपशकुन है, इसका उल्लेख मिलता है। अलग अलग ग्रन्थों में विचार अलग अलग हैं।

जब श्रीराम की बारात चलती है, तब वहाँ पर जो शकुन हुए, उनका वर्णन 'मानस' में गोस्वामीजी ने किया –

छेमकरी कह छेम बिसेषी।
स्यामा बाम सुतरु पर देखी।।
सनमुख आयउ दधि अरु मीना।
कर पुस्तक दुइ बिप्र प्रबीना।। १/३०३/७-८
मंगलमय कल्यानमय अभिमत फल दातार।
जनु सब साचे होन हित भए सगुन एक बार।। १/३०३

– सफेद रंगवाली चील विशेष रूप से कल्याण कह रही है, बाईं ओर के सुन्दर वृक्ष पर श्यामा दिखाई दे रही है, दही, मछली और दो विद्वान ब्राह्मण हाथ में पुस्तकें लिए हुए सामने आये। सभी मंगलमय, कल्याणमय तथा मनोवांछित फल देनेवाले सगुन मानो सच्चे होने के लिए एक साथ हो गये।

फिर उन्होंने असगुन के भी वर्णन किये हैं –

असगुन होहिं नगर पैठारा।
रटहिं कुभाँति कुखेत करारा।।
खर सिआर बोलहिं प्रतिकूला।
सुनि सुनि होइ भरत मन सूला।। २/१५८/४-५
अति गर्ब गनइ न सगुन असगुन
स्रवहिं आयुध हाथ ते।
भट गिरत रथ ते बाजि गज
चिक्करत भाजहिं साथ ते।
गोमाय गीध कराल खर रव
स्वान बोलहिं अति घने।
जनु काल दूत उलूक बोलहिं
बचन परम भयावने।। ६/७७/ छंद

– नगर में प्रवेश करते समय अपशकुन होने लगे। कौए बुरी

जगह बैठकर बुरी तरह से काँव काँव कर रहे हैं। गधे तथा सियार विपरीत बोल रहे हैं। यह सुन-सुनकर भरत के मन में बड़ी पीड़ा हो रही है। ... अत्यन्त गर्व के कारण वह (रावण) शकुन-अशकुन का विचार नहीं करता। हथियार हाथों से गिर रहे हैं। योद्धा रथ से गिर पड़ते हैं। घोड़े-हाथी साथ छोड़कर चिग्घाड़ते हुए भाग जाते हैं। सियार, गिद्ध, कौए और गधे शब्द कर रहे हैं। कुत्ते बहुत भौंक रहे हैं। उल्लू ऐसे भयानक शब्द कर रहे हैं, मानो काल के दूत हों।

इसी प्रकार अन्य ग्रन्थों में भी सगुन-असगुन का वर्णन है। अंगिराजी से पूछा गया कि आपकी दृष्टि में सबसे अच्छा सगुन क्या है? उन्होंने कहा, सबसे अच्छा सगुन है मन का आनन्द, हर्ष, उत्साह – **अंगिरा च मनोत्साह**। चलते हुए आपको प्रसन्नता हो, मन में उमंग हो, उत्साह हो, तो यह मानो सबसे बढ़िया सगुन है। भगवान श्रीराम के चरित्र में भी अधिकांश प्रसंगों में यह आप अवश्य पाते हैं कि प्रभु जब चलते हैं तो हर्षित होकर चलते हैं। इसका प्रारम्भ तो आपको वहीं मिल जायेगा, जब श्रीराम माता-पिता के चरणों में प्रणाम करके महर्षि विश्वामित्र के साथ चलते हैं। वहाँ पर है – दोनों सिंह-समान भ्राता हर्ष के साथ मुनि का संकट दूर करने चले –

पुरुष सिंह दोउ बीर
हरषि चले मुनि भय हरन। १/२०८/ख

हर्षित होकर चले। भगवान राम जब भी कोई यात्रा करते हैं, तो वहाँ यह शब्द आप अवश्य पाते है। यथा –

धनुषजग्य सुनि रघुकुल नाथा।
हरषि चले मुनिबर के साथा।। १/२१०/१०

– रघुकुल-शिरोमणि ने धनुष-यज्ञ की बात सुनी और मुनिश्रेष्ठ के साथ हर्षपूर्वक चल पड़े।

हरषि चले मुनि बृंद सहाया।
बेगि बिदेह नगर निअराया।। १/२१२/४

– वे मुनियों के साथ हर्षपूर्वक चले और शीघ्र ही जनकपुर के निकट पहुँच गये।

जब श्रीराम को वन जाने का आदेश हुआ, उन्हें वन जाना पड़ा, तब भी वे हर्षित मन से गुरु के चरणों में प्रणाम करके यात्रा प्रारम्भ करते हैं। और यह बड़ी सहज-सी बात है कि यदि आपके मन में ही उत्साह नहीं है, उमंग नहीं है तो आप उस दही या मछली से सगुन मानकर क्या कर पाएँगे! कई लोग तो ऐसे होते हैं कि विजया-दशमी के दिन सिर ढाँके सोये रहते हैं और वे तब तक आँखें नहीं खोलते, जब तक कोई मछली या दही लाकर न दिखा दे। इस तरह सगुन दिखाकर भी जो अपने मन को हतोत्साहित करते हैं, उनके बारे में क्या कहें! सही बात तो यह है कि **आपके मन में उत्साह होना चाहिए**। मन के उत्साह का अर्थ यह है कि यदि आप वस्तु का सगुन देखेंगे तो वस्तु तो बाहर है और आपका मन भीतर है। बाहर सगुन दिखाई दे और आपके मन में सगुन न हो, उत्साह न हो तो उससे क्या होगा? बाहर हो, या न हो, पर भीतर तो हर्ष होना ही चाहिए।

पर 'मानस' के इन दो प्रसंगों में ऐसी बात नहीं है। और यह 'मानस' के सबसे श्रेष्ठ तथा प्रिय प्रसंगों में है। जनक-नन्दिनी सीताजी के प्रति भगवान का इतना अनुराग है, इतना प्रेम है, उनके रूप का चिन्तन है! ऐसी स्थिति में जब गुरुदेव उन्हें धनुष तोड़ने को कहते हैं, तब तो उन्हें हर्षित होकर ही उठना चाहिए था, चलना चाहिए था, पर इस प्रसंग में एक बड़ा चौंकानेवाला शब्द मिलता है। गोस्वामीजी कहते हैं –

सुनि गुरु बचन चरन सिरु नावा।
हरषु बिषादु न कछु उर आवा।। १/२५४/७

– गुरुदेव का आदेश सुनकर श्रीराम ने उनके चरणों में सिर नवाया। उनके मन में न हर्ष हुआ और न विषाद।

और उसके बाद क्या कहते हैं? – अपने सहज स्वभाव के साथ उठ खड़े हुए –

ठाढ़े भये उठि सहज सुभाएँ। १/२५४/८

यह एक नई बात है। यहाँ तो और हर्षित होना चाहिए था, पर यहाँ तो हर्ष भी नहीं है और विषाद भी नहीं। इस प्रकार का एक यह प्रसंग है, जहाँ पर हर्ष और विषाद के अभाव का वर्णन किया गया और दूसरा प्रसंग है चित्रकूट का। जब श्री भरत प्रभु के दर्शन करने चित्रकूट गए, और उससे बढ़कर उनके जीवन के आनन्द, उनके जीवन के उद्देश्य की और क्या अभिव्यक्ति हो सकती है, पर श्री भरत अन्यत्र तो हर्षित होते हुए दिखाई दे रहे हैं, परन्तु जिस समय श्री भरत ने चित्रकूट में आश्रम में प्रवेश किया, उस समय पहले तो भरत जी का दु:ख नष्ट हो गया। दु:ख नष्ट होने का अभिप्राय है कि सुखी हो गए। और उसके बाद जब भरत जी ने प्रभु का दर्शन किया, तो अब तो प्रसन्नता और हर्ष की सीमा नहीं रही होगी? पर गोस्वामीजी लिखते हैं –

सानुज सखा समेत मगन मन।
बिसरे हरष सोक सुख दुख गन।। २/२४०/१

जनकपुर में श्रीराम में हर्ष-शोक, सुख-दुख का अभाव है और यहाँ भरतजी के अन्त:करण में हर्ष-शोक, सुख-दुख का अभाव है। भरतजी भगवान राम का दर्शन करके हर्षित क्यो नहीं होते? यह भी नहीं कि शोक हो गया हो। गोस्वामीजी कहते हैं कि शोक भी नहीं और हर्ष भी नहीं।

'मानस' के सर्वश्रेष्ठ प्रसंगों में ये दो प्रसंग सर्वोच्च कोटि के हैं। ये दोनों प्रसंग इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं कि एक विदेहनगर की भूमि में होनेवाला धनुषयज्ञ और उसमें साक्षात् ब्रह्म-स्वरूप श्रीराम को गुरु वशिष्ठ ने आदेश दिया और उन भगवान राम के मन में न हर्ष है न विषाद, न सुख है न दुख। इसी प्रकार

से जब भरतजी चित्रकूट आए तो उन्हें मार्ग में हर्ष हुआ और विषाद भी। परन्तु जब दर्शन हुआ, तो कोई भाव नहीं – सुख का भी कोई भाव नहीं, दुख का भी कोई भाव नहीं।

भगवान राम के अनेक रूप हैं। **एक तो उनका वह रूप है जिसे आप चित्रों में पाते हैं।** चित्रकार के अन्तःकरण में जैसा भाव आया, वह वैसा चित्र बना देता है। उस चित्र को देखकर आप प्रसन्न होते हैं, होना भी चाहिए। आपको लगता है कि यह श्रीराम का चित्र है और इस रूप में हमारे राम आराध्य हैं, पूज्य हैं। यद्यपि आप जानते हैं कि विभिन्न चित्रकारों द्वारा बनाए हुए श्रीराम के रूप-रंग एक जैसे नहीं हैं, परन्तु आप सबमें आनन्द लेते हैं। यह भगवान का एक रूप हुआ, जो चित्रकार या मूर्तिकार आपके सामने रखते हैं।

उनका **दूसरा रूप वह है, जिस रूप में आप उन्हें देखना चाहते हैं।** चित्रकार ने भगवान को जिस रूप में बनाया, वह भी बड़ा सुन्दर है। वह भी मन में आनन्द की सृष्टि करता है, परन्तु आप स्वयं किस रूप में भगवान को देखना चाहते हैं? जो रूप आप चित्र या मूर्ति के माध्यम से देख रहे हैं, सम्भव है कि आपकी रुचि और भावना के अनुकूल न हो। जैसे गोस्वामीजी भगवान श्रीकृष्ण के मन्दिर में जाते हैं और उनसे अनुरोध करते हैं कि वे धनुष-बाण धारण कर लें और वे धनुष-बाण धारण करके भक्त की भावना और रुचि को पूर्ण करते हैं। भक्त उन्हें जिस रूप में देखना चाहते हैं, भगवान स्वयं को उसी रूप में प्रगट कर देते हैं।

पर एक तीसरा शब्द 'मानस' में भी आता है और वह है 'स्वरूप'। रूप का अर्थ है, जैसा आप चाहते हैं, और स्वरूप का अर्थ है – 'वह जैसा है'। यह जो राम का स्वरूप है –

राम सरुप तुम्हार
बचन अगोचर बुद्धिपर।
अबिगत अकथ अपार
नेति नेति नित निगम कह ।। २/१२६

चित्रकार के द्वारा बनाया गया जो रूप है, वह भी अच्छा भाव और आनन्द की सृष्टि करता है और आप उन्हें जिस रूप में देखना चाहते हैं, उसी में वे आ ज़ाएँ तब तो यह आनन्द की पराकाष्ठा है। लेकिन **कभी भक्त भगवान से कहता है कि आप अपना स्वरूप दिखा दीजिए** और तब भगवान जो रूप प्रगट करते हैं, वह कोई एक ही प्रकार का रूप नहीं है, उनके न जाने कितने प्रकार के रूप हैं, उनका स्वरूप अनन्त है। श्रीराम का एक रूप वह है जो दूसरों की दृष्टि, दूसरों के आँख का परिचायक है, दूसरा वह जो हमारी दृष्टि का परिणाम है और तीसरा वह है जो उनका तत्त्वमय साक्षात् दिव्य स्वरूप है। यह जो उनका स्वरूप है, उसके लिए गोस्वामीजी 'सहज' शब्द का प्रयोग करते हैं –

जीव पाव निज सहज सरूपा। ३/३५/८

❖ (क्रमशः) ❖

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि पिछले किसी अंक से बनना हो, तो उसका उल्लेख करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें - 'नया सदस्य'।

(३) अपनी पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही उसका नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उससे पहले प्राप्त शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। अंक उपलब्ध होने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ५/- रुपयों का अतिरिक्त खर्च वहन करके इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमारे कार्यालय को न भेजें।

(६) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

अनुशासन का महत्त्व

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

मेरे एक मित्र हैं। उन्हें पेड़-पौधों से बड़ा प्यार है। बड़ा जतन करते हैं। ऐसी देखभाल करते हैं मानो वे उनके बच्चे हों। उन्होंने अशोक का एक पौधा लगाया। पौधा बढ़ने लगा। जो डाली उन्हें अनावश्यक प्रतीत होती, उसे वे काट देते। यदि तना उन्हें झुकता नजर आता, तो वे खपच्ची बाँध कर सीधा कर देते। ऊपर की शाखा-प्रशाखाओं को छाँटकर गोल आकार दिया करते। कुछ वर्ष बाद पौधा बढ़कर एक परिपक्व वृक्ष बन गया - कितना सुन्दर, कितना मोहक। देखो तो आँखें वहीं गड़ जातीं। मैंने भी देखादेखी अशोक का एक वृक्ष रोप दिया। वह बढ़ने लगा और कुछ वर्ष बाद वह भी एक बड़ा पेड़ बन गया। पर उसमें मित्र के पेड़-सी न तो सुन्दरता थी, न मोहकता। कारण का चिन्तन करने पर मित्र ने बताया कि तुम्हारे पेड़ का विकास बेतरतीब था, अनुशासनबद्ध नहीं था। मित्र ने मुझसे पूछा - क्या तुम उचित समय पर अनावश्यक डालियों को काटते थे? तने को झुकने से बचाने के लिए खपच्ची लगाते थे? मेरा उत्तर 'नहीं' में था। मतलब यह की पेड़ का विकास भी यदि हमें मनोवांछित रूप से साधित करना है, तो उसे अनुशासन में रखना होगा।

मेरी आँखें खुल गयीं। देश बौना हो गया है - देश के अंग-प्रत्यग बेतरतीब बढ़े हैं। कारण समझ में आ गया। देश को आजादी के इन पैंतीस वर्षों में अनुशासन की प्रक्रिया में नहीं बाँधा गया। सुन्दर सुन्दर पौधों को सही दिशा नहीं दी गई, इसलिए वे बेतरतीब बढ़कर देश की खुशहाली के साधक होने के बदले बाधक बन गये। हमने आजादी के पहले का वह पाठ भुला दिया कि जब एक सामान्य पौधे को इच्छानुकूल रूप देने के लिए इतनी साधना की आवश्यकता होती है, तब मानव रूपी पौधे को उचित आकार देने के लिए कितनी तपस्या न लगती होगी! और उसका फल प्रत्यक्ष है। हम बड़ी उपलब्धि चाहते हैं, पर अनुशासन हमें पसन्द नहीं। तो यह उपलब्धि कैसे हासिल हो सकती है? मैं रविशकर के सितार-वादन की प्रशसा कर सकता हूँ, पर तब मैं यह भूल जाता हूँ कि इस योग्यता को प्राप्त करने के लिए रविशकर को अनुशासन की कैसी कड़ी प्रक्रिया में से गुजरना पड़ा होगा।

मेरे एक वेदपाठी मित्र हैं। आज वेदपाठ में उनका नाम देश भर में फैला है। उन्हें बचपन में वेदपाठ करते हुए देखता था। पिता छड़ी लेकर पुत्र को वेदपाठ सिखा रहे हैं। आरोह और अवरोह में किसी शब्द में पुत्र ने भूल की, तो तड़ से बेंत की मार उन्हें सहनी पड़ती थी। उस समय तो लगता था कि यह कठोरता है। पर आज उसी कठोरता का कितना मीठा फल उन्हें मिला है। तब पिता के प्रति उनका आक्रोश था। आज उन्हीं पिता के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते वे थकते नहीं। यह अनुशासन प्रारम्भ में कठोर तो लगता है, पर उसका फल महान् बनानेवाला होता है।

अनुशासन वह खराद है, जो हीरे का मल दूर कर उसे चमका देता है। हम चमकना तो चाहते हैं, पर खराद की प्रक्रिया से गुजरना हमें पसन्द नहीं। हम सब कुछ आसानी से, शार्ट-कट के द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं। हम इसे बुद्धिमानी समझते हैं। पर है यह हमारी नादानी, और हमारी यह नादानी देश को किस प्रकार तबाह कर रही है, यह दृश्य तो आँखों के सामने ही है। स्वामी विवेकानन्द ने आज से नब्बे साल पहले कहा था - "चालाकी से कोई बड़ा काम नहीं हो सकता।" उनका यह कथन आज के सन्दर्भ में कितना सत्य है। हम चालाकी को ही बड़ा होने का रसायन समझ बैठे हैं। और विडम्बना यह है कि हम तो अनुशासित नहीं रहना चाहते, पर दूसरों से अपेक्षा करते हैं कि वे अनुशासन में रहें। क्या यह कभी सम्भव है?

अनुशासन प्रारम्भ में बलपूर्वक ही करना पड़ता है, बाद में वह सहज हो जाता है। भय का अनुशासन अस्थायी होता है, वह भय के दूर होते ही नष्ट हो जाता है। इसका अनुभव हमने आपात्काल में किया है। टिकाऊ अनुशासन वह है, जो भीतर से आता है। उसमें समाजबोध जुड़ा होता है। निपट स्वार्थी व्यक्ति अनुशासन का बन्धन स्वीकार नहीं करता। हमें सामाजिक चेतना का पाठ नहीं पढ़ाया गया है। हमारा धर्म भी प्रचलित तौर पर स्वार्थ का ही पाठ पढ़ाता है - अपने पुण्य और अपने मोक्ष की बात पर जोर देता है। जब तक यह दृष्टिकोण न बदला गया और सामाजिक चेतना को सर्वोपरि स्थान न दिया गया, तब तक अनुशासन हमारे लिए अरण्य-रोदन ही सिद्ध होगा। और हम एक राष्ट्र के रूप में बौने ही बने रहेंगे। ❏❏❏

जीने की कला (२७)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी दो भागों में निकला है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे है। अनुवादक हैं श्री रामकुमार गौड़, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र में सेवारत हैं। – सं.)

पिछले जन्म की स्मृति

इंग्लैंड के मनोचिकित्सक डेनिस केल्सी ने सम्मोहन की सहायता से करीब ३०० मानसिक रूप से विक्षिप्त रोगियों का उपचार किया है और उनके मन के आन्तरिक स्तरों में प्रसुप्त अनेक ग्रन्थियों का इलाज किया। सभी ३०० रोगियों ने सम्मोहन की अवस्था में अपने मन के गहन स्तरों में प्रवेश करके अपने पिछले जन्म की बातें याद करके अपने दोषों का विवरण दिया। मनोचिकित्सक आम तौर पर सम्मोहित अवस्था में पुनर्जाग्रत होनेवाले बचपन के संस्कारों की मदद से अपने रोगियों की बीमारियों के कारण को ढूढ़ने का प्रयास करते हैं। परन्तु इससे हमेशा संतोषजनक परिणाम नहीं मिलते। केल्सी का कहना है कि ऐसे मामलों मे रोगियों के पिछले जन्म की घटनाओं से परिचित होना अत्यन्त आवश्यक है।

कुछ वर्ष पूर्व विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में कार्यरत लोग आत्मा और देहातीत अस्तित्व जैसे विषयों पर कुछ कहना अपने मर्यादा के अनुरूप नहीं मानते थे। "भौतिक नियमों के नियंत्रण के परे भी कुछ हो सकता है" – ऐसा विश्वास मात्र अन्धविश्वास माना जाता था। परन्तु हाल के वर्षों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण में बदलाव आया है। 'साइन्स डाइजेस्ट' के जुलाई, १९९२ अंक में जॉन ग्लैडमैन का एक रोचक लेख प्रकाशित हुआ है – 'आत्मा की खोज में वैज्ञानिक'। ग्लैडमैन बताते हैं कि अनेक प्रसिद्ध वैज्ञानिकों ने अपने विचारों द्वारा विस्मयजनक तथा रहस्यमय आध्यात्मिक जगत् के अस्तित्व का समर्थन किया है। नोबल पुरस्कार विजेता आस्ट्रेलियायी न्यूरोलॉजिस्ट जॉन इक्लीस इस प्राचीन धार्मिक विश्वास का दृढ़ समर्थन करते हैं कि भौतिक पदार्थ तथा अमूर्त आत्मा का एक विचित्र संयोजन से मनुष्य की सृष्टि हुई है। यह अभौतिक आत्मा भौतिक मस्तिष्क की मृत्यु के बाद भी जीवित रहती है।

वह सूचना लेकर वापस आयी

मृदुला शर्मा एक कुशल गृहवधू हैं। उन्हें दो विषयों में स्नातकोत्तर उपाधि मिली है। पर ये दोनों उपाधियाँ उन्हें एक ही जन्म और एक ही विश्वविद्यालय से नहीं मिली हैं। पहले उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम.ए. की उपाधि प्राप्त की थी। फिर उन्होंने राजनीति विज्ञान का अध्ययन किया और मेरठ विश्वविद्यालय से उस विषय में एम.ए. की उपाधि पाई। प्रथम और द्वितीय उपाधि प्राप्त करने के बीच की अवधि का अन्तर एक जीवन-काल की बात थी। यह स्वाभाविक है कि इसे सुनकर कोई हक्का-बक्का रह जाय। मृदुला शर्मा कहती हैं, "मैं पिछले जन्म में मुन्नू थी और इस जन्म में मृदुला शर्मा हूँ।" उनका पिछला जन्म देहरादून में बीता था। अभिलेखों के अनुसार उनकी मृत्यु १९४५ मे हुई थी। मृदुला का विश्वास है कि मुन्नू के रूप में अपनी मृत्यु के चार वर्ष बाद १९४९ में उनका मृदुला के रूप में पुनर्जन्म हुआ। अब वे २४ वर्ष की हैं। पूर्ववर्ती जीवन में उनका जन्म बनिया जाति में हुआ था और इस बार वे ब्राह्मण जाति में जन्मी हैं। उनका बयान भ्रान्ति मात्र कहकर नहीं टाला जा सकता। अमेरिका में स्थित वर्जीनिया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर इयान स्टीवेन्सन विशेष रूप से इसी घटना की जाँच पड़ताल के लिए १८ और १९ मार्च, १९७४ को भारत आए। उन्होंने कहा, "पुनर्जन्मों के विषय में यह एक निर्विवाद प्रमाण है।" वे आश्वस्त थे कि केवल पुनर्जन्म का सिद्धान्त ही इसकी व्याख्या कर सकता था। इस दृढ़ विश्वास के साथ वे अपने स्वदेश लौट गए।

सचमुच ही यह एक दुर्लभ घटना थी। उन दिनों की एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक कार्यकर्त्री सत्यवती सेट्टी पिछले जन्म में मृदुला की माता थीं। वे स्वतंत्रता सेनानियों के साथ कार्य कर चुकी थीं। इस जन्म में उनकी माता शान्ता शास्त्री है। दोनों ही जीवित हैं। दोनों ही माताएँ पुत्री मृदुला को खूब स्नेह करती हैं। पूर्व जीवन की बातों को याद करने की घटना तब घटी जब मृदुला केवल २ वर्ष की थी। जब उसे लीची खाने को दी गई, तो उसे अपने विगत जीवन की घटनाओं की स्पष्ट याद हो आई। वह अपनी माता से कहने लगी कि देहरादून के अपने घर में उसे अच्छे किस्म की लीचियाँ खाने को मिलती थीं। इस पर विस्मित होने के बावजूद माता-पिता ने उसकी बात पर विशेष ध्यान नहीं दिया। कुछ हफ्तो बाद उसके पिता की मृत्यु हो गयी। मानो दैवयोग से शान्ता शास्त्री को देहरादून के एक विद्यालय में शिक्षक की नौकरी मिल गयी। मृदुला अपनी माँ के साथ वही रहने लगी। वहाँ रहते समय वह बीच बीच में अपने पिछले जन्म की घटनाएँ बताया करती थी।

एक दिन मृदुला अपनी माता के साथ देहरादून के एक धार्मिक कार्यक्रम में गई। वहाँ एक कोने में बैठी हुई एक प्रौढ़ महिला को उसने पहचान लिया। वह सीधे उनके पास जाकर उनकी गोद में बैठ गयी। प्रौढ़ महिला स्नेहपूर्वक बालिका को

दुलारने लगी। उन्हें क्या पता था कि उन्हीं की पुत्री ने अब यह रूप धारण कर लिया है और उनकी गोद में बैठी है? उस बालिका ने आत्मविश्वास के साथ उन वृद्ध महिला की बगल में बैठी एक अन्य महिला को सम्बोधित करते हुए से कहा, "तुम मेरी छोटी बहन हो।"

वह महिला बोली, "ऐसा कैसे हो सकता है? मैं तो बड़ी हूँ और तुम तो अभी बच्ची हो।"

मृदुला ने कहा, "मैं तुम्हारी बड़ी बहन मुन्नू हूँ।"

उस महिला की आँखें फटी-की-फटी रह गईं। उसे लगा कि दाल में कुछ-न-कुछ काला अवश्य है। उसने उस बालिका से ऐसी बातें पूछीं, जिनके उसे ज्ञात होने की जरा भी आशा न थी। मृदुला के उत्तर से उसे विश्वास हो गया कि उसकी बातों में सच्चाई है। परन्तु माँ सत्यवती का सन्देह बना रहा। उसकी परीक्षा करने के लिए वे उसे घर ले गईं। वह बालिका घर के सभी कक्षों को देखकर आनन्दित हो गई। उसने अपनी पुस्तकों की आलमारी की ओर संकेत किया। उसने बताया कि अटारी में रखा पंखा नया है। सभी बातें सत्य थीं।

घर के नये मरम्मत कराए हुए भाग को देखकर उसने कहा कि वह नया लग रहा था। वे लोग यह देखने के लिए उसे बाजार में ले गए कि क्या वह पुराने लोगों को पहचान सकती है। दुकान में बैठे एक वृद्ध व्यक्ति की ओर इशारा करते हुए उसने कहा, "इस दुकान से कोई चीज मत खरीदना। इस दुकानदार ने जबरदस्ती मेरा पर्श छीन लिया था।" वृद्ध व्यक्ति ने पुरानी घटना का स्मरण कर उस बात को स्वीकार किया। वह कुशलचन्द को भी पहचान गयी, जो अब आनन्द स्वामी बन गए थे। उसने कहा, "स्वामीजी, आपने गेरुआ पहनना कब से शुरू कर दिया? पहले तो आप श्वेत वस्त्र ही धारण किया करते थे।" कुशलचन्द बिल्कुल ही चकित रह गए।

इस बीच पिताजी छद्मवेश में यह सब कुछ देख रहे थे। अचानक वे कह उठे, "बेटी, तुमने सबको तो पहचान लिया, पर अपने इस वृद्ध नौकर को नही पहचान सकी।" मृदुला ने उन्हें अपनी बाँहों में भरकर कहा, "आप नौकर नहीं हैं। आप मेरे पिताजी हैं।"

सत्यवती इस बात से बड़ी प्रसन्न थीं कि उनकी मृत पुत्री का पुनर्जन्म हुआ है। उन्होंने इस पुत्री पर खूब प्रेम वर्षाया। मृदुला के विवाह के समय उन लोगों ने उसे एक बँगला, दस हजार रुपये तथा अनेक स्वर्णाभूषण उपहार में दिये।

स्टीवेंसन ने मृदुला से पूछा, "अपनी स्मृतियों के अतिरिक्त क्या तुम अपने पिछले जन्म का कोई अन्य प्रमाण दे सकती हो? मृदुला ने कहा, "मैं और कुछ नहीं जानती।" स्टीवेंसन स्वीकार करते हैं, "यह पुनर्जन्म की एक सच्ची घटना है।" वे अब त्वचा पर के तिलों के बारे में अध्ययन कर रहे हैं। कहते हैं कि पिछले जन्म के तिल वर्तमान जन्म में भी फिर दीख पड़ते हैं।

स्टीवेंसन ने पूछा. "क्या तुम्हें याद है कि तुम्हारी मृत्यु कैसे हुई?

मृदुला ने कहा, "हाँ, मुझे याद है। मुझे भयंकर पीड़ा का बोध हुआ। मुझे महसूस हुआ मानो कोई मुझे पाँव से ऊपर उठा रहा हो। वह दर्द क्रमश: ऊपर उठने लगा और मेरे सिर में दर्द होने लगा। फिर मुझे पानी में बहने का अनुभव होने लगा। इसके बाद मुझे लगा कि मैं हवा मे तैर रही थी। जब मैं दो वर्ष की थी, तो मुझे और अधिक बातें याद थीं।"

पाँच वर्ष की आयु में मृदुला अपनी माँ के साथ ऋषीकेश गयी और स्वामी शिवानन्द से मिली। स्वामी शिवानन्द की एक पुस्तक में इस घटना का उल्लेख मिलता है। टाइम्स ऑफ इण्डिया के (३१ अक्तूबर, १९७६ ई. के) रविवासरीय अंक में भी इस घटना पर एक लेख छपा था। यह विवरण उसी लेख पर आधारित हैं।

देहान्तरण

स्टीवेंसन ने गर्भाधान की प्रक्रिया से गुजरे बिना ही नया जन्म प्राप्त करने की एक अन्य विचित्र घटना का उल्लेख किया है। यह एक अनूठी घटना है, जिसमें साढ़े तीन वर्ष के एक बालक का शरीर एक अन्य आत्मा का निवासस्थान बन गया। यह घटना १९५४ ई. में उत्तर प्रदेश के मुजफ्फरनगर जिले में स्थित रसूलपुर में घटी। गिरिधर लाल जाट का पुत्र जसबीर छोटी चेचक से ग्रस्त था। बीमारी गम्भीर होती गई और एक दिन बालक मर गया। गिरिधर लाल ने बच्चे का अन्तिम-संस्कार करने के लिए रिश्तेदारों से सम्पर्क किया। परन्तु रात हो जाने के कारण उन लोगों ने अगले दिन सुबह ही उसकी दाह-क्रिया करने का निश्चय किया। मृत घोषित होने के दो या तीन घण्टे के बाद जसवीर की शरीर में जीवन के चिह्न दिखाई पड़े। फिर थोड़ी देर बाद वह गहरी साँसें लेने लगा। क्षीणकाय बालक शीघ्र ही ठीक होकर बातचीत करने लगा। उसकी बातों से अन्य लोगों को महसूस हुआ कि कोई अन्य आत्मा जसबीर की देह में प्रविष्ट हो गयी है।

उसने कहा कि वह विहेड़ी के शंकरलाल का पुत्र शोभाराम है। उसने अनुरोध किया कि उसे उसके गाँव ले जाया जाय। ब्राह्मण कुलोद्भूत होने के गर्व के कारण उसने जाट के घर भोजन करने से मना कर दिया। वह इतना दुराग्रही था कि उन लोगों को उसका भोजन पकाने के लिए पड़ोस की एक ब्राह्मण महिला को लाना पड़ता था। उसका यह दुराग्रह दो वर्ष तक चलता रहा। यदा-कदा उसके अनजाने में वे लोग उसे घर में बना भोजन भी खिला देते थे। इसका पता चलने पर वह दुखी हो जाता था, पर क्रमश: वह इसका अभ्यस्त होने लगा।

उसने बताया कि किस प्रकार वह अपने पूर्वजन्म में विहेड़ी में शोभाराम के रूप में एक विवाह-भोज में सम्मिलित हुआ था और एक गाड़ी में लौटते समय वह बेहोश होकर गिर पड़ा तथा सिर में चोट लग जाने के कारण उसका देहान्त हो गया। उसी के कर्जदार एक व्यक्ति ने उसे जहर खिला दिया था।

शोभाराम जसवीर के शरीर में देहान्तरित हो गया है – यह बात जसवीर के पिता सार्वजनिक नहीं करना चाहते थे। परन्तु बच्चे की बातें तथा व्यवहार देखकर लोग पूछताछ करने लगे। गाँव के अन्य ब्राह्मणों को पता चल गया कि एक ब्राह्मण महिला शोभाराम के लिए भोजन पकाती है। यह खबर धीरे धीरे विहेड़ी तक पहुँच गयी। इस घटना के तीन वर्ष बाद इसके सत्य को प्रमाणित करनेवाले साक्ष्य क्रमश: प्रकाश में आने लगे। रविदत्त शुक्ल सपत्नीक जसवीर को देखने आए। वह उन दोनों को पहचान गया। जब विहेड़ी से शंकरलाल और अन्य सम्बन्धी वहाँ आए, तो उसने प्रत्येक को पहचान कर उनसे प्रेमपूर्ण बातें कीं। कुछ दिनों बाद उसे विहेड़ी लाया गया और रेल्वे स्टेशन के पास ही छोड़ दिया गया। उसने आसानी से घर का रास्ता पहचान लिया। यहाँ तक कि गलत दिशा बताए जाने पर भी वह ठीक ठीक गन्तव्य तक पहुँच गया। वह त्यागी-परिवार का सम्पूर्ण वृत्तान्त जानता था। वह अपने नवीन जन्मस्थान रसूलपुर लौटने के बजाय विहेड़ी गाँव के त्यागी-परिवार में रहने को इच्छुक था। एक बार अनिच्छापूर्वक रसूलपुर लौटते समय वह फूट-फूटकर रोने लगा। यद्यपि वह एक बालक के शरीर में था, फिर भी वह स्वयं को वयस्क मानता था। वह प्राय: अपने पिछले जन्म की पत्नी और बच्चों का उल्लेख किया करता था।

जसबीर अपने वार्तालाप के दौरान शोभाराम के रूप में अपनी पहचान के प्रति सचेत था। जसवीर की वाणी में एक ब्राह्मण की शब्दावली पर भी गिरिधर लाल का ध्यान गया। पहले-पहल तो उसे बालक के इस सनकीपने पर क्रोध ही आया, परन्तु सच्चाई का पता लगने पर वह उसे सम्मान की दृष्टि से देखने लगा। जैसा कि स्वाभाविक था, विहेड़ी में पत्नी तथा बच्चे होने का दावा करने पर उस बालक की हँसी उड़ायी गयी थी। परिवार की अरुचि और बारम्बार हँसी उड़ाने तथा डाँट-फटकार ने उसे उस विषय पर चर्चा छोड़ देने को बाध्य कर दिया था। परन्तु जब कभी वह विहेड़ी जाता, तो वहाँ अपने पूर्वजन्म के पुत्र के साथ बड़ी आत्मीयता का व्यवहार करता। जाटों ने इसका अनुमोदन नहीं किया और वे लोग उसके आने-जाने को हतोत्साहित करने लगे।

स्टीवेंसन ने उस बालक से पूछा कि शोभाराम के रूप में उसकी मृत्यु और जसबीर की देह में पुन: प्रकट होने के बीच क्या उसे कोई इन्द्रियातीत अनुभव हुए थे? उसने बताया, "एक साधु ने मेरे समक्ष प्रकट होकर मुझे जसवीर की देह में शरण लेने की सलाह दी थी।" अब भी संकट के क्षणों में उसे कभी कभी उस साधु से मार्गदर्शन प्राप्त होता था।

इस घटना के गहन अध्ययन के लिए स्टीवेंसन ने १९५७ से १९७४ ई. के बीच मुजफ्फरनगर की कई बार यात्राएँ कीं। इस बीच जसवीर का विवाह एक जाट युवती से हो गया था। अब वह अपने नये माता-पिता और भाइयों के साथ सामंजस्य बैठाकर रहता है। वह धीरे धीरे अपने पूर्वजन्म की घटनाओं को भूल रहा है।

तुम मर नहीं सकते !

आप पूछ सकते हैं कि क्या पूर्वजन्म की बातें हर व्यक्ति के सन्दर्भ केवल इसलिए मान लेनी चाहिए, क्योंकि ऐसी घटनाएँ बीच बीच में घटती रहती हैं! परन्तु ऐसी घटनाएँ संसार के लगभग सभी भागों से एकत्र की गई हैं। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि पूर्वजन्म में विश्वास न करनेवाले समुदायों में भी पूर्वजन्म की बातें याद करनेवाले लोग जन्म लेते रहते हैं। इयान स्टीवेंसन ने ऐसी हजारों घटनाओं का संग्रह और अध्ययन किया है। इयान क्यूरी द्वारा लिखित – "तुम मर नहीं सकते" नामक ग्रन्थ में, अतीन्द्रिय अनुभव तथा मृत्यु-विषयक पिछले सौ से भी अधिक वर्षों के दौरान एकत्रित बड़े विचित्र तथ्यों के विवरण हैं। इस अध्ययन से प्राप्त हुए निष्कर्ष निम्नलिखित हैं –

१. मृत्यु जीवन को समाप्त नहीं करती। शरीर का नाश हो जाने पर भी जीवन विद्यमान रहता है।

२. अपने निवास की देहों को छोड़ने के बाद आत्माएँ अन्य लोकों या अस्तित्व के विभिन्न स्तरों में रहकर पूर्वजन्म की चेतना को जगाए रखती हैं।

३. इन लोकों से लौटकर पुन: इस पृथ्वी पर नया शरीर धारण करने के बाद, पिछले लोक तथा अन्य पूर्वजन्मों को स्मृतियाँ धीरे धीरे क्षीण होती जाती हैं।

४. आत्मा अकारण ही कोई देह बारम्बार धारण नहीं करती। आत्मा के प्रस्थान तथा पुनरागमन के बीच हमेशा कोई-न-कोई कार्य-कारण सम्बन्ध रहता है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि इयान क्यूरी ने नृतत्त्व-विज्ञान, समाज-शास्त्र और परा-मनोविज्ञान का गहन ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही, बिना किसी पूर्वाग्रह के, अतीन्द्रिय सत्ता तथा कर्म-सिद्धान्त के विषय में अपना अनुसन्धान शुरू किया।

पारलौकिक अनुसन्धानों का योगदान

लन्दन के एबेकस पब्लिशिंग हाउस ने कुछ वर्षों पूर्व शैला आस्ट्रेंडर और लिन श्रोएडर कृत 'Psychic Discoveries Behind the Iron Curtain' (लोहे की दीवारों के उस पार की पारलौकिक खोजें) शीर्षकवाली तथा पुष्ट दस्तावेजी प्रमाणों से

युक्त एक पुस्तक प्रकाशित की। विगत आठ वर्षों के दौरान उक्त दो महिलाओं ने वैज्ञानिकों की सहायता से अतीन्द्रिय विषयों पर अनेकों लेख प्रकाशित किए थे। १९६८ ई. में ये महिलाएँ मास्को में आयोजित परा-मनोविज्ञान विषयक विशेष सम्मेलन में आमंत्रित की गयी। वहाँ वे कई विशेषज्ञों से मिलीं और उनके साथ अतीन्द्रिय अनुभवों के बारे में असंख्य शोधों पर चर्चा करने के बाद. इस प्रकार एकत्रित सामग्री का प्रयोग इस पुस्तक के लेखन में किया। लेखिकाओं का कहना है कि रूसी सरकार ऐसे प्रयोगों पर हर वर्ष २ करोड़ रूबल खर्च करती है और परा-मनोविज्ञान के क्षेत्र में रूसी लोग अमेरिकी लोगों से कम-से-कम ५० वर्ष आगे थे। उन्होंने अनुरोध किया कि इस क्षेत्र में अमेरिकी लोगों को अपने शोध को और गहनतर बनाना चाहिए। रूसी वैज्ञानिक अपने अधिकांश अनुसन्धानों को गोपनीय ही रखते हैं। इसीलिए इसका शीर्षक 'आयरन करटेन्स (लोहे की दीवारों)' दिया गया।

उन महिलाओं ने डॉ. वेलीसिव नामक एक परा-मनोवैज्ञानिक से साक्षात्कार लिया। डॉ. वेलीसिव का कहना था, "सोवियत वैज्ञानिकों ने २५ वर्ष पहले ही दूरबोध (टेलीपैथी) में सफल प्रयोग कर लिए थे।" यह इस बात का प्रमाण है कि रूसी वैज्ञानिक काफी काल से इस शोध में लगे हुए हैं। यदि हम रूसी रॉकेट युग के जनक के. ई. ट्सीवोल्कोवस्की के लेखों को पढ़ें, तो समझ सकते हैं कि विभिन्न क्षेत्रों में क़ार्यरत वरिष्ठ वैज्ञानिक किस प्रकार विज्ञान की इस शाखा में भी शोध को प्रोत्साहन दिया करते थे।" वे कहते हैं, "सुदूर ग्रहों की यात्रा करते समय दूरबोध (टेलीपैथी) में प्रशिक्षण और उसमें सिद्धहस्त होना अत्यावश्यक है। इस कला में निष्णात लोग मानव जाति के पूर्ण विकास में योगदान करते हैं। सुदूर ग्रह-नक्षत्रों की ओर जाते हुए रॉकेट जहाँ बाह्य जगत् के रहस्यों को खोलते हैं, वहीं इन्द्रियातीत अनुभवों का अध्ययन मानव-मन के स्वरूप के रहस्यों को अनावृत कर देगा। यह मानवता की सबसे बड़ी उपलब्धि या सफलता होगी।"

एडवर्ड सोमोव और दूरबोध-विशेषज्ञ कार्ल निकोलोव ने सोवियत रूस में परा-मनोविज्ञान पर प्रकाशित पुस्तकों की लोकप्रियता का विवरण दिया है। अभी हाल ही में, अतीन्द्रिय अनुभवों पर लिखित पुस्तकों की संख्या में १५२% तक की वृद्धि हो गयी है। तत्कालीन सोवियत सरकार ने मुद्रण उद्योग पर अपना पूर्ण नियंत्रण रखा था और अपने द्वारा अस्वीकृत सामग्रियों को मुद्रित न करने का अधिकार सुरक्षित रखा था। इस प्रकार की पुस्तकें अब भी बड़ी संख्या में प्रकाशित हो रही हैं। इसका अर्थ यह है कि इस क्षेत्र में शोध को प्रोत्साहित किया जाता है और लोग इस विषय में रुचि रखते हैं। वहाँ चामत्कारिक खोजें हुई हैं और हो रही हैं। ❖ **(क्रमशः)** ❖

हितोपदेश की कथाएँ (१७)

(कर्पूर द्वीप में पद्मकेलि नामक सरोवर में सभी जलचर पक्षियों का राजा हिरण्यगर्भ नामक राजहंस रहता था। जम्बु द्वीप में विंध्य-पर्वत के निवासी पक्षियों का राजा चित्रवर्ण नामक मोर ने उस पर आक्रमण किया। अपने मंत्री गिद्ध की सहायता से चित्रवर्ण को विजय मिली। उसने किले की सारी धनराशि कब्जे में कर ली। अब चित्रवर्ण मोर ने अपने महामंत्री गिद्ध के सम्मुख अपने प्रधान गुप्तचर मेघवर्ण नामक कौए को कर्पूर द्वीप का राजा बनाने का प्रस्ताव रखा। पर मंत्री ने मना करते हुए राजहंस हिरण्यगर्भ के साथ सन्धि कर लेने की सलाह दी। – सं.)

दूरदर्शी गिद्ध ने हँसकर कहा – "महाराज, क्या आप बिना सन्धि किये यहाँ से जाना उचित समझते हैं? हमारे यहाँ से जाने के बाद वह फिर आक्रमण करेगा। और फिर –

योऽर्थ-तत्त्वमविज्ञाय क्रोधस्यैव वशं गतः।
स तथा तप्यते मूढो ब्राह्मणो नकुलाद्यथा ।।

– जो वस्तुस्थिति का तात्पर्य समझे बिना ही क्रोध के वशीभूत हो जाता है, उसे उसी प्रकार दुखी होना पड़ता है जैसे कि ब्राह्मण नेवले को मारकर दुखी हुआ था।

राजा ने पूछा – "यह कैसे?"

दूरदर्शी कहने लगा –

कथा ११

उज्जैन में माधव नाम का एक ब्राह्मण रहा करता था। उसक स्त्री को हाल ही में पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई थी। एक दिन वह बच्चे को ब्राह्मण के संरक्षण में रखकर स्नान करने चली गई। इसी बीच ब्राह्मण को राजा के यहाँ से श्राद्ध का दान लेने का निमंत्रण मिला। स्वभाव से ही निर्धन ब्राह्मण ने सोचा – यदि मैं शीघ्र वहाँ नहीं पहुँच जाता तो कोई दूसरा ब्राह्मण जाकर उसे हथिया लेगा। क्योंकि –

आदेयस्य प्रदेयस्य कर्तव्यस्य च कर्मणः।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पीबति तद्रसम् ।।

– 'लेने, देने और अपने उचित कर्तव्य को पूरा करने में यदि विलम्ब किया जाय, तो काल उसके रस को पी जाता है अर्थात् काम बिगड़ जाता है।'

"पर बच्चे की रक्षा करने वाला भी तो कोई नहीं है। अब क्या करूँ? तो बहुत दिनों से अपने बेटे के समान पाले हुए इस नेवले को बच्चे की रखवाली में लगाकर चला जाता हूँ।"

ऐसा करके वह चला गया। थोड़ी देर बाद एक काला नाग निकला और बालक की ओर बढ़ने लगा। नेवले ने ज्योंही उसे देखा, त्योंही क्रोध के साथ उस पर झपटा और उसके टुकड़े टुकड़े कर डाले। इसके बाद नेवले ने दूर से लौटते हुए ब्राह्मण को देखा, तो खून से सने पंजों तथा मुँह के साथ ही दौड़कर उसके चरणों में लोटने लगा। इस रूप में नेवले को देखकर ब्राह्मण को पक्का विश्वास हो गया कि इसने मेरे बच्चे को मार डाला है। बस, उसने तत्काल ही नेवले को मार डाला। तत्पश्चात् वह घर पहुँचा। वहाँ अपने बच्चे को सुखपूर्वक खेलते और साँप को मरा देखकर उसे अपनी भूल समझ में आई और वह अपनी करनी पर पछताने लगा। इसीलिए मैं कहता हूँ – जो वस्तुस्थिति का अर्थ समझे बिना ... आदि।"

और फिर – 'राजा को चाहिए कि वह काम, क्रोध, मोह, लोभ, मान और मद – इन छह शत्रुओ का त्याग कर दे, क्योंकि तभी वह सुखी हो सकता है।'

राजा ने कहा – "मंत्री, तो तुम्हारा यही निश्चय है?"

मंत्री बोला – "हाँ, क्योंकि – 'स्मरण-शक्ति, कार्य में तत्परता, उचित-अनुचित का विचार, ज्ञान का निश्चय, दृढ़ता और मंत्रणा को गुप्त रखना – ये मंत्री के सर्वश्रेष्ठ गुण हैं।' और भी कहा है, 'सहसा कोई काम न कर डाले। क्योंकि अविचार ही बड़ी बड़ी विपत्तियों का कारण बन जाता है। जो लोग विचारपूर्वक कार्य करते हैं, उनके पास गुण-लोभी सम्पत्तियाँ अपने आप दौड़ आती हैं।' अतः महाराज, यदि इस समय आप मेरी सुनें, तो सन्धि करके लौट चलिये। क्योंकि –

यद्यपि उपायाश्चत्वारो निर्दिष्टाः साध्यसाधने।
संख्यामात्रं फलं तेषां सिद्धिः साम्नि व्यवस्थिता ।।

– 'यद्यपि कार्यसिद्धि के लिए साम, दाम, दण्ड और भेद – ये चार उपाय बताए गये हैं। परन्तु ये केवल गिनती के लिए ही हैं। वस्तुतः कार्यसिद्धि तो 'साम' (समझाने) से ही होती है।'

राजा ने कहा – "तो सन्धि शीघ्र कैसे हो सकती है?"

मंत्री बोला – "राजन्! शीघ्र हो जाएगी, क्योंकि – 'जैसे मिट्टी का घड़ा बड़ी आसानी से टूट जाता है, परन्तु उसे जोड़ना बड़ा कठिन है, वैसे ही दुष्टों से सन्धि मुश्किल से होती है और होकर भी सहज ही टूट जाती है और जैसे सोने का कलश शायद ही कभी टूटता है, पर आसानी से जोड़ा जा सकता है, वैसे ही सज्जनों के साथ सन्धि बड़ी आसानी से हो जाती है और शायद ही कभी टूटती है।' और

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्माऽपि तं नरं न रंजयति ।।

– 'सर्वथा अज्ञानी व्यक्ति को बड़ी आसानी से समझाया जा सकता है, विद्वान् को तो और भी सरलता से वश में लाया जा सकता है, पर थोड़े-से ज्ञान से ही जिस व्यक्ति को अहंकार हो गया है, उसे तो ब्रह्मा भी सन्तुष्ट नहीं कर सकते।'

"यह राजा बड़ा धर्मात्मा और इसका मंत्री बड़ा बुद्धिमान है – यह बात मैंने गुप्तचर मेघवर्ण की बातों और उसके कार्यों को देखकर पहले से ही जान लिया है। क्योंकि – 'आँखों के परे रहनेवाले व्यक्ति के गुण तथा स्वभाव उसके कार्यों द्वारा ही जाने जाते हैं, अत: छिपे हुए गुणोंवाले व्यक्ति के कार्य उसके फलों द्वारा ही अनुमान किये जाते है।' "

राजा ने कहा – "अब वाद-विवाद करना व्यर्थ है। जैसी तुम्हारी इच्छा हो, वैसा करो।"

इस प्रकार सलाह करने के बाद महामंत्री गिद्ध ने कहा – "इस विषय में जो उचित होगा, वैसा ही किया जायेगा।" और इसके बाद वह किले के भीतर चला गया।

इसके उपरान्त गुप्तचर बगुले ने आकर राजहंस राजा हिरण्यगर्भ से कहा – "महाराज, महामंत्री गिद्ध सन्धि करने को हमारे पास आ रहे हैं।"

राजहंस ने अपने मंत्री से पूछा – "तो क्या वह फिर छल की भावना के साथ यहाँ आ रहा होगा?"

सर्वज्ञ चकवे ने हँसकर कहा – "अब सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि दूरदर्शी बहुत ऊँचे विचारों का मंत्री है। और थोड़ी बुद्धिवालों का स्वभाव ही ऐसा होता है कि कभी तो वे बिल्कुल सन्देह करते ही नहीं और कभी सर्वत्र सन्देह ही करते हैं। जैसे कि –

'रात के समय तालाब में भोजन के लिए कुमुद की खोज करनेवाला निर्बुद्धि हंस, उसमें बहुत-से तारों का प्रतिबिम्ब देखकर धोखा खा जाता है अर्थात् उन्हें ही कुमुद समझकर बार बार उनके पास जाकर निराश होता है, परन्तु उन्हीं तारों की शंका से ग्रस्त हंस दिन में भी श्वेत कमलों का भी भक्षण नहीं करता – कपटाचार से धोखा खाया हुआ व्यक्ति सच्ची वस्तु में भी अनिष्ट की आशंका किया करता है।' और –

दुर्जन-दूषित-मनसः सुजनेष्वपि नाऽस्ति विश्वासः ।
बालः पायसदग्धो दध्यपि फूत्कृत्य भक्षयति ।।

– 'जिनका हृदय दुष्टों के आचरण से सन्तप्त हो गया है, वे सज्जनों के आचरण पर भी विश्वास नहीं करते, क्योंकि दूध का जला हुआ बालक दही भी फूँक-फूँककर पीता है।'

"इसलिए महाराज, उनका सत्कार करने के लिए यथाशक्ति रत्नों आदि का उपहार तैयार कराइए।"

यह व्यवस्था हो जाने के बाद मंत्री चक्रवाक ने किले के द्वार पर जाकर गिद्धमंत्री को बड़े सम्मानपूर्वक ले आया और अपने राजा से मिलाया। राजा ने उसे आसन दिया, जिस पर वह बैठ गया।

मंत्री चक्रवाक बोला – "यह सारा राज्य अब तुम्हारे अधीन है। तुम स्वेच्छा से इसका उपभोग करो।"

राजा राजहंस ने कहा – "बिल्कुल ठीक बात है।"

दूरदर्शी गिद्ध बोला – "यह तो ठीक है, परन्तु इस समय व्यर्थ की बातें करने से क्या लाभ? क्योंकि –

लुब्धमर्थेन गृह्णीयात् स्तब्धमञ्जलि-कर्मणा ।
मूर्खं छन्दानुरोधेन याथातथ्येन पण्डितम् ।।

– 'लोभी को धन देकर, अहंकारी के सामने हाथ जोड़कर, मूर्ख को उसके अनुसार कार्य करके और विद्वान् को सच्ची बातें बताकर अपने अनुकूल वश में कर ले।' और –

सद्भावेन हरेन्मित्रं सम्भ्रमेण तु बान्धवान् ।।
स्त्री-भृत्यौ दान-मानाभ्यां दाक्षिण्येनेतराञ्जनान् ।।

– 'सद्भाव से मित्रों को, प्रेम से बान्धवों को, दान-मान से स्त्री व सेवकों और उदारता से अन्य को वश में लाना चाहिए।'

"अतएव इस समय सन्धि करने हेतु महाप्रतापी राजा चित्रवर्ण के पास चलिए।"

चकवा बोला – "सन्धि कैसे करनी होगी, बताइए।"

राजा हंस ने पूछा – "सन्धि के कितने प्रकार होते हैं?"

गृध्र बोला – "कहता हूँ, सुनिए – 'यदि कोई राजा अपने से बलवान राजा से आक्रान्त हो जाय और कोई उपाय न बचे, तो समय टालने के लिए उस विपत्ति-ग्रस्त राजा को शत्रु के साथ सन्धि कर लेनी चाहिए। शास्त्रज्ञ विद्वानों ने ये सोलह प्रकार की सन्धियाँ बताई हैं – कपाल, उपसंहार, सन्तान, संगत, उपन्यास, प्रतीकार, संयोग, पुरुषान्तर, अदृष्टनर, आदिष्ट, आत्मादिष्ट, उपग्रह, परिक्रय, उच्छिन्न, परभूषण और स्कन्धोपनेय।

"समान बल मानकर सन्धि करने को कपाल-सन्धि कहते हैं। कुछ देकर सन्धि करने को उपहार-सन्धि कहते हैं। अपनी कन्या देकर की जानेवाली सन्धि सन्तान-सन्धि कहलाती है। मित्रता करके सज्जनों के साथ की जानेवाली सन्धि संगत-सन्धि कहलाती है। समान अर्थ और प्रयोजन पर आधारित होने के कारण यह सन्धि, सम्पत्ति या विपत्ति में अनेक कारणों के उपस्थित होने पर भी आजीवन नहीं टूटती। इसी कारण यह सन्धि स्वर्ण के समान सर्वश्रेष्ठ है। सन्धि-शास्त्र के अनेक विद्वान् इसी से इसको स्वर्ण-सन्धि कहते हैं।

"अपना काम बनाने हेतु जो सन्धि की जाती है, उसे विद्वान् उपन्यास-सन्धि कहते हैं। मैंने इसका उपकार किया है, इससे यह मेरा भी उपकार करेगा – इस भाव से जो सन्धि की जाती है, उसे प्रतिकार-सन्धि कहते हैं; जैसा कि राम तथा सुग्रीव ने किया था। समान उद्देश्य की सिद्धि के लिए अधिक संख्या में सेना लेकर चढ़ाई करने हेतु की जानेवाली सन्धि को संयोग-सन्धि कहते हैं। हम दोनों के श्रेष्ठ योद्धा आपस में मिलकर अपना काम बनावें – इस आधार पर होनेवाली सन्धि पुरुषान्तर-सन्धि कहलाती है। तुम्हें अकेले यह करना होगा –

ऐसी शर्त जिसमें रखी जाय, उसे दृष्टपुरुष सन्धि कहते हैं। भूमि का एक टुकड़ा देकर शत्रु को बड़ा मानते हुए मिलाने के लिए की जानेवाली सन्धि आदिष्ट-सन्धि कहलाती है।

अपनी सेना देकर होनेवाली सन्धि आत्मादिष्ट और अपना सर्वस्व अर्पण करके प्राणरक्षा के लिए की जानेवाली सन्धि उपग्रह-सन्धि कही जाती है। अपने खजाने का कुछ हिस्सा, आधा या पूरा खजाना सौंपकर बाकी बचे हुए की रक्षा के लिए की जानेवाली सन्धि परिक्रय-सन्धि कहलाती है। अपनी अच्छी भूमि देकर की जानेवाली सन्धि उच्छिन्न-सन्धि कही जाती है। भूमि से उत्पन्न लाभ देकर की हुई सन्धि परभूषण-सन्धि कहलाती है। जिसमें कई किश्तों में कुछ नियत लाभ पहुँचाने की शर्त होती है, उसे विद्वज्जन स्कन्धोपनेय-सन्धि कहते हैं।

"सन्धियों के चार प्रकार हैं – परस्पर उपकार, मैत्री, सम्बन्ध और उपहार। मेरे विचार से उपहार ही एकमात्र सन्धि है और एक मैत्री को छोड़कर बाकी सभी सन्धियाँ उपहार के ही भेद हैं। आक्रमणकारी प्रबल होने के कारण बिना कुछ उपहार लिए नहीं लौटता। इसलिए उपहार-सन्धि के अतिरिक्त और कोई सन्धि है ही नहीं।"

राजा ने कहा – "आप लोग बड़े महान् और विद्वान् हैं। अत: आपको जो उचित लगे, वह हमें बताइए।"

मंत्री दूरदर्शी गिद्ध बोला – "आप ऐसा क्यों कहते हैं? –

आधि-व्याधि-परीतापादद्य श्वो वा विनाशिने।
को हि नाम शरीराय धर्मापेतं समाचरेत् ।।

– 'जो शरीर आधि (मानसिक पीड़ा) तथा व्याधि (शारीरिक रोग) से पीड़ित है और आज या कल नष्ट हो जानेवाला है, उसके लिए भला कौन अधर्म का काम करेगा!'

जलान्तश्चन्द्र-चपलं जीवितं खलु देहिनाम्।
तथाविधमिति ज्ञात्वा शश्वत्कल्याणमाचरेत् ।।

– 'देहधारी प्राणी का जीवन जल में हिलते हुए चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब के समान चंचल है – इस प्रकार जीवन को क्षणभंगुर जानकर सर्वदा कल्याण-कारी कार्यों में तत्पर रहना चाहिए।'

वाताऽभ्रविभ्रममिदं वसुधाधिपत्यम्-
आपातमात्रमधुरो विषयोपभोगः।
प्राणास्तृणाग्रजलबिन्दुसमानलोला-
धर्मः सखा परमहो परलोकयाने ।।

– 'यह राज्य वायु के झोकों से छिन्न-भिन्न हो जानेवाले बादल के समान क्षणभंगुर है, विषयों का भोग मुहूर्त मात्र के लिए ही मधुर लगता है और जीवन घासों के छोर पर पड़े ओस-कण के समान चंचल हैं, परलोक-यात्रा के समय तो एकमात्र धर्म ही परम सखा के रूप में साथ जाता है।'

मृगतृष्णासमं वीक्ष्य संसारं क्षणभङ्गुरम्।
सज्जनैः सङ्गतं कुर्याद् धर्माय च सुखाय च ।।

– 'संसार को मृगतृष्णा के समान क्षणभंगुर जानकर, धर्म तथा सुख की प्राप्ति हेतु सज्जनों का संग करना चाहिए।'

"अत: मेरे मत से तो सन्धि करना ही ठीक है। क्योंकि –

अश्वमेध-सहस्त्राणि सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेध-सहस्त्राद्धि सत्यमेवातिरिच्यते ।।

– 'तराजू के एक पलड़े पर एक हजार अश्वमेध यज्ञ और दूसरे पर केवल सत्य को रखा जाय, तो उन हजार अश्वमेध-यज्ञों की अपेक्षा सत्य ही अधिक भारी निकलेगा।'

"अत: सत्य की शपथ के साथ दोनों राजाओं के बीच कांचन-सन्धि हो जानी चाहिए।"

सर्वज्ञ चकवा ने कहा – "ठीक है, ऐसा ही हो।"

इसके बाद राजा हिरण्यगर्भ ने वस्त्र-अलंकार आदि उपहार देकर गिद्ध दूरदर्शी का सत्कार किया और वह प्रसन्न मन से चकवे को साथ लिए मयूरराज चित्रवर्ण के पास गया। चित्रवर्ण ने गिद्ध की सलाह पर अनेकों प्रकार से मान-दान आदि देकर सर्वज्ञ मंत्री से चर्चा की और सन्धि की बात को स्वीकार करने के बाद राजहंस हिरण्यगर्भ के पास वापस भेज दिया।

दूरदर्शी मंत्री गिद्ध बोला – "स्वामी, हमारी कामना पूर्ण हुई। अब हमें देश विंध्याचल को लौट चलना चाहिए।"

इसके बाद सभी लोग अपने अपने स्थानों को लौटकर अपनी इच्छानुसार फल-भोग करने लगे।

विष्णु शर्मा ने कहा – "बताओ, अब और क्या कहूँ?"

राजकुमारों ने कहा – "आपकी कृपा से हम लोगों ने राज्य-व्यवहार के विषय में सभी अंग जान लिए। इससे हम लोग अत्यन्त प्रसन्न हैं।"

विष्णु शर्मा ने कहा – "सो तो ठीक ही है, पर इतना और भी हो – 'सभी विजयी राजाओं के साथ सन्धि हो, सर्वदा आनन्द हो, सज्जन विपत्ति-रहित हों, पुण्यात्माओं की कीर्ति बढ़े, नीति सर्वदा मंत्रियों के वक्षस्थल पर विराज कर उनके मुख को चूमती रहे और दिनो-दिन महान् उत्सव होता रहे।'

"और 'जब तक हिमालय-कन्या पार्वती का श्री शिवजी के प्रति अनुराग रहे, जब तक बादलों में दमकती विद्युन्माला के समान लक्ष्मीजी भगवान विष्णु के हृदय में विहार करें और सूर्य जिसकी मानो चिनगारी है, वह दावानल के समान देदीप्यमान सुमेरु पर्वत जब तक विद्यमान है, तब तक नारायण-पण्डित द्वारा रचित यह कथा-संग्रह जगत् में प्रचारित होता रहे।'

और 'शत्रुओं पर शासन करनेवाले श्रीमान् राजा धवलचन्द्र चिरंजीवी हों, जिन्होंने बड़े यत्नपूर्वक इस संग्रह को लिखवाकर इसका प्रचार किया'। ❖ **(समाप्त)** ❖

स्वयं पर विश्वास

स्वामी सत्यरूपानन्द

माता सीता की खोज में बंदर दक्षिण समुद्र तट पर पहुँचे। वहाँ संपाति ने उन्हें बताया कि माता सीता लंका में रावण के यहाँ बन्दिनी हैं। अब प्रश्न आया कि कौन समुद्र लाँघ कर माता सीता का समाचार ला सकता है? सभी बड़े बड़े वीर नल, नील, अंगद आदि अपनी अपनी शक्तियों का आकलन करने लगे किन्तु किसी भी वीर में यह शक्ति नहीं थी कि वह समुद्र लाँघ कर लंका जाय और माता सीता का समाचार लेकर लौटे।

जामवन्त यह सब देख रहे थे। उन्होंने देखा कि महावीर हनुमान कहीं नहीं दीख रहे हैं। उठ कर उन्होंने इधर उधर देखा कि हनुमानजी एक ओर चुपचाप बैठे हैं। जामवन्त उनके पास गये और पूछा – हनुमान, तुम यहाँ चुपचाप क्यों बैठे हो?

हनुमानजी ने उत्तर दिया कि मैं यहाँ चुपचाप इसलिये बैठा हूँ कि हमारी सेना का कोई भी वीर समुद्र लाँघ कर माता सीता का समाचार लाने में समर्थ नहीं है।

जामवन्त ने कहा - हनुमान, भला तुम्हारे रहते इसकी चिंता क्या है? और ऐसा कह कर जामवन्त ने हनुमानजी को उनकी शक्ति और वीरता का स्मरण दिलाया तथा यह बताया कि बचपने में ही उन्होंने कितनें महान् और अद्भुत पराक्रम किये थे। उसे सुन कर हनुमानजी का आत्म-विश्वास जाग उठा। उसके बाद की उनके महापराक्रम की कहानी से हम सभी परिचित हैं।

अपने आप पर विश्वास। अपनी शक्तियों और योग्यताओं पर विश्वास। अपनी विजय और सफलता पर विश्वास। यही रहस्य है जीवन की सफलता का।

प्रत्येक मनुष्य के भीतर आत्मा की अनंत शक्ति भरी हुई हैं। आत्मा की शक्ति से मनुष्य सब कुछ करने में समर्थ हो सकता है। किंतु अपनी शक्ति पर विश्वास न होने के कारण, अपने आप पर विश्वास न होने के कारण उसके भीतर की यह महान् शक्ति सोई हुई ही रह जाती है। महान् शक्तिधर होकर भी मनुष्य दीन हीन दुर्बल बना रह जाता है। अपने जीवन की उन्नति और विकास नहीं कर पाता। जीवन में असफल रह जाता है और यह सब होता है अपने आप पर विश्वास न रहने के कारण।

आज अभी इसी क्षण से अपने आप पर विश्वास करना प्रारंभ कर दीजिये। ईश्वर ने सभी को कुछ न कुछ योग्यताएँ दी हैं। अपने गुणों को अपनी क्षमताओं को पहिचानिये यह स्मरण कीजिये कि आज से पूर्व आपने अपने जीवन में कुछ उपलब्धियाँ अवश्य प्राप्त की हैं। सफल हुए हैं। यह सब कैसे हुआ? आपकी अपनी शक्ति से आपकी अपनी योग्यता से।

अतः अपने आपको दीन हीन दुर्बल मत समझिये। आपके भीतर आत्मा की परमात्मा की शक्ति छिपी हुई है। उस शक्ति पर विश्वास कीजिये। अपने आप पर विश्वास कीजिए। फिर देखिये कि कैसे आपके भीतर छिपी हुई आत्मा की, परमात्मा की शक्ति जाग रही है। आपके मार्ग की बाधाएँ अपने आप दूर होती जा रही हैं। सफलता के साधन जुटते जा रहे हैं। आपकी क्षमताएँ और योग्यताएँ बढ़ती जा रही हैं।

आत्मविश्वासी व्यक्ति की सहायता देवता भी करते हैं। लोग उसका सम्मान करते हैं। उससे सहयोग करते हैं। किन्तु इसके लिये शर्त यह है कि व्यक्ति अपने आप पर विश्वास करे। दृढ़ विश्वास करे और पराक्रमपूर्वक कार्य में लग जाय।

आत्मविश्वासी व्यक्ति तूफान में भी, समुद्री चट्टानों के बीच भी अपनी नाव को किनारे लगा लेता है जबकि आत्मविश्वास हीन व्यक्ति घुटने भर जल में भी डूब मरता है।

जो स्वयं पर विश्वास नहीं करता, उसकी सहायता भगवान भी नहीं करते। अतः अपने आप पर विश्वास कीजिये। आत्मविश्वासी बनिये। सफलता भी आत्म-विश्वासी के चरण चूमती है।

❖ ❖ ❖

मानवता की झाँकी (९)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी ने 'मानवता की झाँकी' नाम से अपने भ्रमण के दौरान हुए उत्कृष्ट अनुभवों को लिपिबद्ध किया था, जो रामकृष्ण कुटीर, बीकानेर से प्रकाशित हुई। इन प्रेरक व रोचक घटनाओं को हम क्रमशः प्रकाशित कर रहे हें। – सं.)

भक्त श्री जगजीवन राम

भक्तिग्रन्थों में समर्पित जीवन, आत्म-समर्पण अर्थात् शरणागति के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। और भक्त के जीवन में यही मुख्य बात भी तो है। साधना की चरम सिद्धि इसी में निहित है! भारतेतर देशों में भी आदर्श भक्तों के जीवन में ही पूर्ण आत्म-समर्पण या भगवत्कृपा पर अटल श्रद्धा अथवा शरणागति की भावना परिपुष्ट मिलती है। ईसा मसीह का जीवन भी इसका एक उज्ज्वल दृष्टान्त है। जब उन्हें सलीब या वध-स्तम्भ पर कीलें ठोक कर मारा जा रहा था, तब भी – Thy will be done – 'तेरी इच्छा पूर्ण हो' – यही श्रद्धामयी उक्ति उनके मुख से निकल रही थी। यह उनके अन्तर्हृदय से निकलने वाली वाणी थी, इसीलिए वे महान् हैं।

भारतवर्ष में तो गाँव गाँव में ऐसे भक्त मिलते हैं, जिनका पूरा जीवन एक अर्घ्य रूप समर्पित जीवन है। भगवत्कृपा पर पूर्ण श्रद्धायुक्त, अति पवित्र कमलपुष्प सदृश उनके जीवन आदरणीय तथा भक्तिमार्गी साधकों के लिए अनुकरणीय है।

परिव्राजक संन्यासी जब (१९२९ ई.) काठियावाड़ (वर्तमान सौराष्ट्र) में भ्रमण कर रहा था, तो एक भक्तसेवक ब्राह्मण ने संन्यासी से कहा – "काठियावाड़ में आपको बहुत उच्च कोटि के भक्त मिलेंगे। संन्यासी इधर कम होते हैं, पर भक्त बहुत होते हैं। पूर्वकाल में भी इसी भूमि में अनेक भक्त-शिरोमणि हुए है, जैसे कि – नरसी मेहता, नरसी के भाई पर्वत मेहता, भोजा भगत, लाला भगत आदि। आप भ्रमण कर रहे हैं, तो भक्त-मिलाप कीजिए।" संन्यासी ने कहा – "धन्यवाद! यह तो आपने ठीक कहा। अब बताइए वर्तमान में दर्शनीय भक्त कहाँ कहाँ हैं, भ्रमण करते हुए चला जाऊँगा, मिल लूँगा।"

ब्राह्मण-भक्त ने दो-चार नाम तथा स्थान बता दिए, उसमें से एक तो ज्यादा दूर नहीं था। (ये ब्राह्मण जेतपुर शहर में मिले थे) जेतपुर के पास बड़िया (एक छोटा सा काठी राज्य) है। बड़िया से पूर्व की ओर कोई मील भर की दूरी पर एक गाँव है, जिसमें वे भक्तराज निवास करते थे। नाम था – भक्त जगजीवनराम। संन्यासी दूसरे दिन ही उधर चल पड़ा।

शीत-ऋतु, खूब ठण्ड पड़ रही थी, ठण्ड की लहर चल रही थी, परन्तु राह चलने में कोई तकलीफ नहीं हुई। जब उस गाँव में पहुँचा, तो सवा या डेढ़ बजे होंगे। भिक्षा का समय हो चुका था। गाँव में किसी से पूछते ही भक्त का मकान बता दिया। मकान ठीक बड़ा था। घर साधारण ग्राम्य होने पर भी समृद्धिवान मालूम होता था। द्वार पर जाकर संन्यासी ने देखा, एक सुपुरुष गृहदेवता का वेदी के सामने बैठकर कोई बृहत् ग्रन्थ पढ़ रहे थे। "नारायण हरि" – शब्द उच्चारण करते ही उस व्यक्ति ने देखा और एकदम दौड़ते हुए आकर छाती से लगाकर – 'अरे भगवान, पधारो, पधारो, अहोभाग्य मेरा' – कहते हुए हाथ पकड़ के अन्दर ले गये और अपने आसन के पास ही बैठने के लिए चटाई बिछा दी। ऐसा आचरण किया मानो पहले से ही प्रगाढ़ परिचय रहा हो। भिक्षा का समय बीता जा रहा था, भूख काफी जोर से लगी थी, पर भक्तजी ने न भोजन के बारे में पूछा न पानी के, उन्होंने तो कुछ दूसरा ही प्रसंग छेड़ दिया, "आप हिन्दी जानते हैं क्या? यह तुलसी रामायण पढ़ रहा हूँ, पर बहुत-सी बातें मेरी समझ में ही नहीं आती, आज सुबह से यह अंश समझने का प्रयास कर रहा हूँ, पर आता ही नहीं। इधर हिन्दी जाननेवाले बहुत कम हैं और समझा सके ऐसा तो कोई है ही नहीं, आदि आदि।" ...

संन्यासी रामायण लेकर बताया हुआ अंश समझाने में लगे तो भक्तजी को पसन्द आया और उन्होंने एक अन्य प्रसंग निकाला, बाद में कोई अन्य और इसी प्रकार लगभग तीन-साढ़े तीन बज गये। संन्यासी यह देखकर हर्षित हुआ कि भक्तजी अपने रामायण-प्रेम में अन्य सभी कर्तव्य भूल गये हैं। भूख तो कम होने लगी थी। खासकर मन में – 'आज उपवास है' – ऐसा विचार लेने के कारण उसकी ज्वाला कम हो गई थी। इतने में बगल के कमरे से घूँघट निकाले ४-५ महिलाएँ आयीं, साथ में एक युवक भी था – "नहीं, अब आपके साथ रहना सम्भव नहीं है, हम लोग तंग आ गए हैं। आप ही के कारण आज घर में सभी भूखे हैं। अरे, छोटे बच्चे तक भी दाना-पानी से वंचित हैं, आपके कारण ही तो ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हुई है। नहीं, अब आपके साथ रहा नही जा सकता।" पर भक्तराज शान्त निर्विकार बैठे रहे, उनकी मुखाकृति में कोई परिवर्तन नहीं आया, यह देख संन्यासी विस्मित हो रहा था।

सब कुछ सुनने के बाद भक्तजी बोले, "शान्त हो जाओ, जो कुछ कहना हो शाम की आरती-प्रार्थना के बाद कहना, अभी मैं स्वामीजी से जरा रामायण समझ रहा हूँ। (संन्यासी की ओर संकेत कर) क्या मैं इन्हें कहीं बुलाने गया था? ये तो स्वयं ही पधारे हैं। श्रद्धा रखो श्रद्धा! क्या परमेश्वर नहीं जानते है कि आज घर में दाना नहीं है? जो इनको अपने घर

ले आए हैं, वे जरूर कुछ बन्दोबस्त करके ही लाए हैं। श्रद्धा रखो, वे जरूर जानते हैं कि आज घर में अन्न का अभाव है, तो भी लाए तो इनके लिए व्यवस्था की होगी। श्रद्धा रखो, अब जाओ, शाम को बाचचीत होगी।''

वे लोग इतने नाराज थे कि अब तक तो उन लोगों ने मानो संन्यासी की ओर देखा तक न था। अब वह युवक उनकी ओर उन्मुख होकर कहने लगा – ''देखिए स्वामीजी, आज हम सब भूखे हैं। चुल्हे में आग तक नहीं सुलगी है। बाल-बच्चे अनाहार हैं, आज ही सुबह बीस जन बैरागी सन्त चले गए। वे यहाँ पन्द्रह-सोलह दिन ठहरे और आप (भक्तजी को दिखाकर) के आतिथ्य का आनन्द लेते रहे। रोज पक्की रसोई – खीर, मालपुआ, पूरी – आदि चाहिए, क्योंकि वैष्णव जो ठहरे। घर में से जब तक चला, अन्न आदि देता गया। बाद में आस-पड़ोस के लोगों से माँग-माँगकर (उधार लेकर) भी दिया गया, पर सब जानते हुए भी इन्होंने उन लोगों को जाने के लिए नहीं कहा, फिर मुझसे रहा नहीं गया और आज सुबह मैंने हाथ जोड़ लिए। वे लोग जूनागढ़ की तरफ रवाना हो गए। इसलिए हमने निश्चय किया कि आज तो उपवासी रहकर इन (बड़े चाचाजी) को भी जरा बोध कराएँ कि वैसा करना अनुचित है, अपने सामर्थ्य से बाहर जाकर आतिथ्य करना क्या शास्त्र-सम्मत है?''

भक्तजी बोले, ''यह सब चर्चा छोड़ो। मैंने तो कह दिया है कि मुझसे ऐसा कहा नहीं जाएगा। मैं बुलाकर तो लाता नहीं। पर द्वार पर किसी के आ जाने पर स्वागत अवश्य करता हूँ और करूँगा। अच्छा अभी जाओ, मैं रामायण समझ लूँ।''

वे सब-के-सब बगल के कमरे में चले गए। भक्तराज पुन: पूर्ववत् शान्तचित्त से रामायण समझने में तत्पर हो गये। उस विषय में एक शब्द भी नहीं कहा। संन्यासी ने अब समझा कि भक्तराज ने क्यों भिक्षा-रोटी-पानी के लिए नहीं पूछा। 'घर में अन्न का टोटा, तब परेशान रहता है मोटा से भी मोटा'। पर भक्तराज निश्चिन्त थे, क्योंकि उन्हें दृढ़ विश्वास था कि समय पर प्रभु परमेश्वर उचित व्यवस्था जरूर करेंगे। उनके प्रशान्त मुख-मण्डल पर चिन्ता की एक भी रेखा न थी। 'राम करहि सो होई, चिन्ता कर क्यों मुवहि।' बस वे श्रद्धावान स्वस्थ थे। अब चार बज गया। जाड़े के दिनों में संध्या जल्दी हुआ करती है, इसलिए संन्यासी उससे पूर्व सांध्य-कृत्य से निपट लेने का विचार कर रहा था। पर भक्तजी की रामायण-प्रीति देखकर कहने को संकोच महसूस कर रहा था। इतने में एक पत्र लिए एक किसान आया और पूछने लगा, ''क्या भक्त जगजीवन राम का घर यही है?''

''आओ, आओ, कहाँ से आ रहे हो?'' – कहकर भक्तजी ने उसे अन्दर बुलाया और चिट्ठी लेकर पढ़ी। पढ़ते ही बोल उठे, ''अरे, तुम सब इधर आ जाओ, अरे ओ भाई, तू जरा इधर आ, देख तो सही इस चिट्ठी में क्या लिखा है?'' सभी स्त्रियाँ और और वह युवक भी आ गये। युवक के हाथ पत्र देकर भक्तजी ने उसे पढ़ करके सबको सुनाने को कहा। उसमें सार बात यह थी – ''नौ-दस वर्ष पहले आप शिवरात्रि के मेले में भक्त-मण्डली के साथ जूनागढ़ पधारे थे। उन दिनों मैं एक निर्धन आदमी था, इसलिए मुझे कोई आश्रय नहीं दे रहा था। एकमात्र आपने ही मुझे सादर आश्रय देकर अपना लिया था और अपनी टोली के ही एक सदस्य के समान बिना किसी भेदभाव के बर्ताव किया था। उस समय मैंने भगवान शंकर से एक प्रार्थना की थी कि यदि कभी मेरी यह निर्धनता दूर हो और पास में कुछ धन-धान्य हो, तो आपकी सेवा में थोड़ा-सा कुछ भेजकर आत्मा में सन्तोष मानूँगा। अब ईश्वर-कृपा से मेरे पास काफी जमीन है और पिछले दो वर्षों से अच्छा अनाज भी उपज रहा है। अत: आपकी सेवा में यह दस मन गेहूँ भेज रहा हूँ, सो कृपया स्वीकार करके मुझे धन्य कीजिएगा।''

वे बोले – ''क्यों, मैं कह ही रहा था कि श्रद्धा रख, जो स्वामीजी को इधर ले आए हैं, वे जानते हैं कि घर में अन्न का अभाव है। कुछ-न-कुछ बन्दोबस्त जरूर करेंगे। लो अब जाओ, गेहूँ लेकर साफ-सूफ करके तैयार करो। ... (किसान से) आओ भाई, बैठो, बैल को चारा डालो, कल वापस जाना, आज रात यहीं ठहरो।'' वह लगभग तीस मील दूर से घनघोर जंगल के बीच से गाड़ी में अनाज लेकर आया था।

युवक और सभी स्त्रियाँ चुपचाप धीरे धीरे वहाँ से चले गए – गेहूँ को साफ करके पीसना और फिर रोटियाँ बनानी थीं।

संन्यासी ने मन ही मन भक्त को नमस्कार किया, धन्य हैं! इन एक भक्त के दर्शन से ही मन-ही-मन सोचने लगा कि काठियावाड़-भ्रमण सफल हुआ।

सांध्य-कृत्य समाप्त करके दीपदान के समय वह पुनः भक्तराज के घर हाजिर हुआ। गृहदेव श्री रामचन्द्र की आरती हुई। घर के सब लोगों ने मिलकर प्रार्थना की आवृत्ति की और जाने लगे, तो भक्तराज ने रोका, "क्यों भाई, तुम लोग उस समय आये थे, तो क्या चाहते हो, सो अब कहो?" सब लज्जित हो मौन-बैठे थे।

वे बोले – "मैंने कहा था, प्रार्थना के बाद बात करूँगा, अब कहो. क्या चाहते हो? यह बात सच है कि मेरी आदत खराब है. मैं किसी को 'ना' नहीं बोल सकता हूँ या 'जाओ' – ऐसा भी नहीं कह सकता। इससे तुम लोगों को कष्ट होता है, तो ऐसी व्यवस्था होनी ही ठीक रहेगी कि आगे वैसा न हो। तुम्हीं लोग तो खेती-बाड़ी का सारा काम सँभालते हो, तुम्हारे भाग का जो अनाज हो, उसे यदि तुम अलग रख लो, तो इस भाँति परेशान नहीं होना पड़ेगा, क्यों यही चाहते हो न?"

युवक ने सिर हिलाकर हामी भरी।

भक्तजी बोले – "तो बस आज से तुम वैसा ही करना, और मेरा जो उचित भाग हो, से (एक छोटी-सी कोठरी की ओर इंगित कर) इसमें रख देना, और बाइयो, तुम भी अपना अपना उचित भाग अलग कर रख लेना, ताकि अन्न के अभाव में कष्ट न सहना पड़े। और क्या चाहते हो कहो?"

(स्त्रियों में उनकी अपनी सहधर्मिणी, एक विधवा कन्या और बहन भी थी) सब चुप, कोई कोई आँसू बहाने लगीं।

– "क्यों रो रही हो? तुम ही तो माँगते थे और कहते थे कि अब साथ रहना मुश्किल हो गया है। और रहेंगे तो साथ ही, केवल अनाज का भाग हुआ, अब निश्चिन्त रहो, उस बारे में मेरी ओर से कोई कष्ट नहीं होगा, बाकी सब ईश्वराधीन है। (सबके उठकर जाते समय) हाँ, ठहरो, एक बात रह गई है, श्री भगवान और इन संन्यासी स्वामीजी के समक्ष मैं कह रहा हूँ – अब से मैं अपने हाथों तुम्हारे भाग में से एक दाना भी नहीं लूँगा, पर तुम्हें कभी जरूरत हो, तो मुझे बताने की जरूरत नहीं, मेरे भाग में से अपने हाथ से ले लेना!"

सब आँसू बहाते हुए अन्दर चले गए और संन्यासी ने विस्मय-विमुग्ध होकर देखा – पाँच ही मिनट में संपत्ति का बँटवारा हो गया। धन्य भक्तराज जगजीवन राम जी! भक्त की ग़ति तो सचमुच न्यारी ही हुआ करती है। अस्तु।

सब लोगों ने मिलकर संन्यासी को करीब पन्द्रह दिनों तक रोक रखा, विशेषकर भक्तराज ने, उन्होंने पूरे रामायण के अपने लिए कठिन अंशो को समझने के बाद ही सन्तुष्ट होकर विदा किया और साथ में यह भी कहा, "इधर आकर रहिए, अपनी खेती में झोपड़ी बना दूँगा, आनन्द से भजन करिएगा, हम आपकी सेवा करेंगे।"

घर के सभी लोगों ने संन्यासी से घर की या इधर-उधर की बातें की, पर भक्तराज ने एक दिन भी वैसी चर्चा नहीं की। और न कभी उस बात की चर्चा की जो प्रथम दिन हुई थी।

❖ (क्रमशः) ❖

कुण्डलियाँ

जितेन्द्र कुमार तिवारी

– १ –

दुखियों के दुख को हरो, है यह पुण्य महान्।
पर-सेवा उपकार में बसते हैं भगवान।।
बसते हैं भगवान, निर्धनों की सेवा में।
पर-सेवा का भोग सदा मिलता मेवा में।।
कह 'जितेन्द्र कविराय' कि दीनों को अपनाओ।
जीवन अपना धन्य करो औ सफल बनाओ।।

– २ –

ईश्वर का रहता सदा, सब जीवों में वास।
और मनुष्य सबसे बड़ा, जीवों में है खास।।
जीवों में है खास, मनुजता का अधिकारी।
इसीलिए सविशेष इसी पर जिम्मेदारी।।
कह जितेन्द्र कविराय न ईश्वर कोई दूजा।
दीन-दुखी के दुःख दूर करना ही पूजा।।

सेवायोग

नारायण दास बरसैंया

जीव क्या है? ब्रह्म ही साकार है,
जीव-सेवा ही हमारा योग है।
दीन-सेवा ही हमारा योग है।।

देश अपना धर्म का आधार है।
देश सेवा ही हमारा योग है।
दीन-सेवा ही हमारा योग है।।

शिव सभी, इहलोक शिव परलोक शिव,
लोक सेवा ही हमारा योग है।
दीन सेवा ही हमारा योग है।।

देह-मन स्थूल हैं, आत्मा नहीं,
आत्म-सेवा ही हमारा योग है।
दीन-सेवा ही हमारा योग है।।

गीता में साधना की रूपरेखा (२/१)

स्वामी शिवतत्त्वानन्द

(रामकृष्ण मठ, नागपुर द्वारा प्रकाशित मराठी में 'भगवद्गीतेच्या अंतरंगात' अपने ढंग की अनूठी पुस्तक है। 'विवेक-ज्योति' में धारावाहिक प्रकाशन हेतु इसका हिन्दी रूपान्तर किया है श्रीमती ज्योत्सना किरवई ने, जिसे हम जनवरी अंक से क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

गीतोक्त साधना का मार्ग

'गीतोक्त साधना का प्राथमिक स्वरूप' पर विचार करते समय हमने देखा कि गीता के मतानुसार 'जिससे सभी जीव उत्पन्न हुए हैं और जिसने इस सम्पूर्ण जीव-जगत् को व्याप्त कर रखा है, उसका स्वकर्मों द्वारा पूजा करते जाना ही स्थूल रूप में साधना का प्राथमिक स्वरूप है। इसका अर्थ यह हुआ कि गुरु तथा शास्त्रोपदेश-जनित इस विश्वास के साथ कि जिन सर्वातीत-सर्वगत एकमेवाद्वितीय प्रभु ने अन्तर्बाह्य रूप से सर्वत्र, सब कुछ व्याप्त कर रखा है, मैं अपने कर्मों द्वारा उन्हीं सर्व-स्वरूप प्रभु की पूजा कर रहा हूँ, इस भक्तिभाव के साथ साधक उन्हें करता रहे। अर्थात् 'मैं' और 'जग' – ये उन सर्वमय प्रभु के नाम-रूपात्मक लीला-विलास हैं, इस बोध से स्वत: स्फूर्त होनेवाले – 'प्रभु, मैं और मेरा नहीं, बल्कि तू और तेरा' – इस भाव के साथ साधक को स्वयं 'निमित्त-मात्र' बनकर अपने स्वभाव, परिस्थिति, समाज में स्थान, स्तर, अधिकार आदि के अनुसार प्राप्त कर्तव्यों का आचरण करते जाना होगा। इस प्रकार मन के विचार, भावना एवं इच्छाशक्ति (thinking, feeling and willing) – इन तीनों पहलुओं में से अर्थात् ज्ञान-भक्ति व कर्म का स्वाभाविक मेल या समन्वय करके साधक को उस हृदयेश्वर या विश्वेश्वर से युक्त होने का, उनमें घुल-मिलकर उनसे एकरूप हो जाने की चेष्टा करनी है।

हमने देखा कि इसी को गीता ने 'कर्मनिष्ठा' कहा है – कर्म द्वारा प्रभु में निष्ठ होना, प्रतिष्ठित होना, निवास करना (हमने विस्तारपूर्वक देखा कि साधक के ज्ञान, भक्ति तथा कर्म इन तीनों को ही गीता में 'कर्मनिष्ठा' कहने का कारण यह है कि जिसमें 'विषयी-विषय' (subject-object) बोध होता है, गीता के परिभाषानुसार वे सभी कर्म हैं। और हमने यह भी देखा कि इसी कारण गीता में 'कर्मनिष्ठा' तथा 'कर्मयोग' शब्दों का समानार्थी रूप में'प्रयोग हुआ है।)

और गीता का कहना है कि इस रीति से, ज्ञान-भक्ति-कर्म के समन्वयरूपी 'कर्मनिष्ठा' द्वारा प्रभु से 'योग' करने की चेष्टा यानी साधना करते करते साधक को 'सिद्धि' प्राप्त होती है।

अब हम देखेंगे कि यह जो सिद्धि प्राप्त होती है, उसमें वास्तव में 'क्या' होता है?

– २ –

तथापि उसे देखने के पूर्व एक अर्थप्राप्त बात की ओर ध्यान देना होगा कि इस कर्मनिष्ठा या कर्मयोग से प्राप्त होने वाली सिद्धि साधक को किसी एक दिन (one fine morning) सहसा ही प्राप्त नही हो जाती, वह उसे आन्तरिक प्रगति के क्रम से धीरे धीरे प्राप्त होती है। यह एक धीरे धीरे घटित होने वाली प्रक्रिया है। इसमें छलाँग नहीं लगाया जा सकता। और यह स्वाभाविक भी है। विकास ऐसे ही होता है। कली खिलते ही फूल नही बन जाती। फल भी तत्काल नहीं पकता। खिलने तथा पकने की भीतर ही भीतर धीरे धीरे घटित होनेवाली एक प्रक्रिया होती है। यही न्याय इस कर्मनिष्ठाजनित सिद्धि में भी लागू होता है।

विश्वासपूर्वक ज्ञानबोध तथा भक्ति-भाव से स्वकर्म करते रहने से साधक के अंत:करण में क्रमश: परिवर्तन आता है। यह परिवर्तन दिखने लायक स्पष्ट होने पर उसी को सिद्धि कहते हैं।

यह परिवर्तन कैसे और कैसा होता है?

वह सर्वातीत सर्वगत एकमेवाद्वितीय प्रभु ही एकमात्र सत्य होने के कारण बाकी सभी नाम-रूपात्मक वस्तुएँ असत्य हैं – इस गुरु-शास्त्र-प्रसाद से उत्पन्न विश्वास के साथ प्रभु की पूजा और इसी भाव से कर्म करते करते साधक का विवेक-बोध एवं मनोभाव उत्तरोत्तर अधिकाधिक स्पष्ट तथा दृढ़, सर्वांगीण, गहन तथा विस्तृत होता जाता हैं, उसे व्याप्त करता जाता है। इसके परिणाम-स्वरूप भोग्य वस्तुओं में उनकी यथार्थता का बोध सहज भाव से ही शिथिल होने लगता है।

इसी तरह विवेक-बोध तथा भक्ति-भाव से युक्त क्रिया-कलापों के कारण समस्त भोग्य वस्तुओं की सत्यता का बोध शिथिल होकर – ये सारी वस्तुएँ क्षणभंगुर, नश्वर, अशाश्वत, असत् तथा मिथ्या है – चित्त मे इस बोध का स्फुरण होते ही उन भोग्य वस्तुओं के विषय में बोध होनेवाली मधुरता अर्थात् उनके प्रति उसकी आसक्ति कमजोर होने लगती है।

और इस तरह भोग्य वस्तुओं के प्रति रुचि में कमी होने से, उनका भोग अरुचिकर-नीरस-असार-फीका लगने का फल होता है – स्वाभाविक तथा अंत:स्फूर्त संयम – इन्द्रियो तथा मन का नियमन। जैसे जैसे विवेक मे वृद्धि होती है, वैसे वैसे 'मै-मेरा' में आसक्ति तथा भोग-विषयों में रुचि घटती जाती है,

और जैसे जैसे भोगासक्ति घटती जाती है, वैसे वैसे इन्द्रिय-मन का संयम दृढ़ होता जाता है।

विषय मधुर लगते है, इसीलिए तो मनुष्य स्वयं को सँभाल नहीं पाता, निरन्तर उन्हीं की ओर खिंचता चला जाता है। विवेक से भोग्य वस्तुओं में आसक्ति कम होने से, न केवल अन्त:स्फूर्त संयम होने लगता है, अपितु उन विषयों के प्रति आकर्षण भी शान्त होने लगती है। उन्हें भोगने की प्रवृत्ति भी कम होने लगती है। भोगेच्छा भी क्षीण होने लगती है।

आसक्ति घटने, इन्द्रिय-मन के संयमित होने तथा भोग-स्पृहा के शान्त होने पर मन की चंचलता अर्थात् विक्षेपों का शमन होने लगता है – चित्त शान्त होने लगता है। जल जितना ही शान्त व स्वच्छ होगा, उसका तल उतना ही स्पष्ट दिखाई देगा। साधक को भी थोड़ा थोड़ा अपने शान्त मन का तल दिखने लगता है – मन के तल में रहनेवाले उन सच्चिदानन्द प्रभु का भी उसी अनुपात में अधिक अनुभव होने लगता है।

और इस 'तल' का आभास होने पर, वहाँ प्रभु की प्रतीति होने पर, 'मैं-मेरा' नहीं 'प्रभु तू-तेरा' – यह जितना ही भासित होने लगता है, उतनी ही मैं-मेरा यानी भोगों के प्रति आसक्ति कम होने लगती है, संयम बढ़ने लगता है, भोग-स्पृहा का शमन होने लगता है और उसके कारण विक्षेपों पर रोक लगने से मन अधिकाधिक शान्त होने लगता है।

इस रीति से एक सुन्दर चक्र बनता है। विवेक से चित्त की शान्ति बढ़ती है और चित्त के शान्त होने से विवेक बढ़ता है। 'कर्मनिष्ठा' मे यह चक्र, यह अन्योन्याश्रित प्रक्रिया चलती रहती है। धीरे धीरे वह पूर्ण होती है। इस प्रक्रिया के पूर्णत: सिद्ध होने पर इसे कर्मनिष्ठा-जनित 'सिद्धि' कहा जाता है।

कर्मनिष्ठा की साधना करते करते इसी प्रक्रिया से 'सिद्धि' प्राप्त होती है।

* * *

कर्मनिष्ठा का पालन करते करते साधक में क्रमश: जो परिवर्तन घटते हैं, उन्हें प्रभु के शब्दों में ही कहें तो –

असक्तबुद्धिः सर्वत्र, जितात्मा, विगतस्पृहः।

– वह संयत हो जाता है और उसके चित्त से सभी भोग्य विषयों की आसक्ति तथा उसकी भोगस्पृहा मिट जाती है।

* * *

(और इसलिए हमारे कर्म के, कर्मनिष्ठा के या कर्मयोग के आचरण से हम उन्नत हो रहे हैं या नहीं, साधना के पथ पर हम ठीक ठीक चल रहे हैं या नहीं, इसका यही एक लक्षण है – हमारे चित्त में ईश्वर के प्रति अनुराग अधिकाधिक प्रकट होगा और संसार तथा भोग के विषय में अधिकाधिक वैराग्य उत्पन्न होगा। मन को जगत् से, भोग से, संसार से अधिकाधिक निकालकर उस सच्चिदानन्द प्रभु में अधिकाधिक लीन करना होगा। ईश्वर से योग और भोगों से वियोग बढ़ेगा। तभी हम निश्चिन्त होकर मान सकते हैं कि हम साधना-पथ पर उचित रीति से चल रहे है, अध्यात्म-मार्ग पर क्रमश: प्रगति कर रहे हैं, कर्मनिष्ठा-जनित-सिद्धि की ओर या ज्ञाननिष्ठा-योग्यता की ओर धीमे मगर दृढ़ कदमों से चल रहे हैं। परन्तु यदि ऐसा न हो रहा हो, तो साधक को सावधान हो जाना चाहिए, आत्म-निरीक्षण करना चाहिए, शास्त्रों तथा गुरु के उपदेशों से अपनी साधना को परख कर देखना चाहिए। इस प्रकार उसे निश्चित रूप से जान लेना चाहिए कि कहीं-न-कहीं जरूर कोई बहुत बड़ी गलती हो रही है। बहुधा सिर्फ ओठों से ही 'तू-तेरा' कहा जा रहा है, पर अन्दर सिर्फ 'मैं-मेरा' की ही धूम है। मन और मुख एक नही हो रहे हैं। उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि सिर्फ ज्ञान की गड़गड़ाहट से, भक्ति के फुसफुसाहट से और कर्म के धड़धड़ाहट से विशेष कुछ भी साधित होनेवाला नहीं है। उनके द्वारा योग तथा वियोग, अनुराग तथा विराग में वृद्धि नहीं हो रही है, तो जीवन सफलता के मार्ग पर अग्रसर नहीं होगा, जीवन रूपी पात्र का साधना-जल भोगसक्ति के छिद्रों में से टपक जाएगा और जीवन खाली ही रह जाएगा।)

इस प्रकार कर्मनिष्ठा के आचरण से होनेवाले इन परिवर्तनों की प्रक्रिया पूर्ण होने के बाद साधक की जो अवस्था होती हैं, उसी को 'कर्मनिष्ठा-जनित सिद्धि' कहा गया है।

– ३ –

इस 'सिद्धि' का स्वरूप क्या है?

यह आध्यात्मिक जीवन की अन्तिम अवस्था न होने पर भी, जिस इस अवस्था को भगवान ने सिद्धि कहकर गौरवान्वित किया है, उसका स्वरूप तथा लक्षण बताते हुए भगवत्पूज्यपाद शंकराचार्य कहते हैं – **स्वे स्वे कर्मणि अभिरत: तत्पर: संसिद्धि स्वकर्म-अनुष्ठानात् अशुद्धिक्षये सति कायेन्द्रियाणां ज्ञाननिष्ठा-योग्यता-लक्षणां लभते प्राप्तनोति नर: ...** अर्थात् – "स्वयं के कर्मों के आचरण के लिए तत्पर होनेवाले मनुष्य को, उस स्वकर्म के अनुष्ठान से, (धीरे धीरे) चित्त से अशुद्धि-मैल दूर होने पर, शरीर-मन तथा इन्द्रियों से ज्ञाननिष्ठा की योग्यतारूपी सिद्धि प्राप्त होती है।"

श्रीधर स्वामी ने इस 'सिद्धि' को 'ज्ञान-योग्यता' कहा है।

भगवान के इस 'सिद्धि' शब्द की व्याख्या करते हुए मधुसूदन सरस्वती कहते हैं – **तम् अन्तर्यामिणं भगवन्तं स्वकर्मणा ... अभ्यर्च्य तोषयित्वा तत्प्रसादात् एकात्म्य-ज्ञाननिष्ठा-योग्यता-लक्षणं सिद्धिम् अन्त:करण-शुद्धिं विन्दति मानव: ...** अर्थात् – "स्वयं के कर्मों द्वारा उन अन्तर्यामी भगवान की पूजा कर उन्हें सन्तुष्ट करके उनकी कृपा से मनुष्य को 'वे एकमेवाद्वितीय प्रभु ही मेरे तथा सभी की आत्मा हैं' –

इस बोध में स्थित होने की योग्यता – यह सिद्धि अर्थात् चित्तशुद्धि प्राप्त करता है।''

भगवान के इस 'सिद्धि' शब्द का 'भावार्थ' बताते हुए ज्ञानेश्वर महाराज अपनी विशिष्ट शैली में कहते हैं –

अर्जुनां यो यपरि । ते विहित कर्म स्वयं करी ।
तो मोक्षाच्या ऐलद्वारी । पैठा होय ।। ... ...

इसका तात्पर्य यह है – ''हे अर्जुन, जो इस प्रकार शास्त्रों द्वारा बतलाए गए स्वकर्म करता है, वह मोक्ष के पहले के द्वार तक पहुँच जाता है। इस प्रकार स्वकर्मानुष्ठान से वह शुभ-अशुभ से परिपूर्ण इस संसार को लाँघकर वैराग्य-रूपी मोक्षद्वार पर जाकर खड़ा होता है। यह वैराग्य समस्त भाग्य का परम उत्कर्ष है। यह मोक्ष-लाभ की अवश्यम्भाविता का निश्चित चिह्न है। यह समस्त कर्मों के श्रम का अन्त है। ... अरुणोदय होने से जैसे पता चलता है कि अब सूर्योदय अवश्य होगा, वैसे ही इस तरह का वैराग्य उत्पन्न होने पर आत्मज्ञान अवश्य ही होगा, ऐसा समझना चाहिए। ... हे अर्जुन, शास्त्रविहित स्वकर्म करते रहने से साधक को मोक्षप्राप्ति की योग्यता प्राप्त होती है। ... हे वीर, स्वकर्म-रूपी पुष्प से उस सर्वात्मक प्रभु की पूजा करने से उन्हें अपार आनन्द होता है। साधक द्वारा की गई उस पूजा से वे आत्मराज प्रसन्न होकर उस साधक को वैराग्य-सिद्धि-रूपी प्रसाद प्रदान करते हैं। हृदय में उस वैराग्य के आने पर साधक को ईश्वर की ही लगन लग जाती है और सारे सांसारिक भोग उसे वमन किए हुए घृणित अन्न के समान अप्रिय लगने लगते हैं। जैसे अपने प्राणप्रिय-पति के विरह से विरहिणी के लिए जीना भी दूभर हो जाता है, वैसे ही उस वैराग्यवान साधक को सभी जागतिक सुख दुखदायी प्रतीत होने लगते हैं। भगवान का यथार्थ ज्ञान होने के पूर्व साधक उनकी लगन लगाकर तन्मय हो जाता है; कर्म द्वारा शुद्ध हुए बोध को या अन्त:करण को यह योग्यता प्राप्त होती है। अत: जिसे मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा है, उसे बड़ी ही आस्था के साथ, उचित प्रकार से स्वकर्म का आचरण करना चाहिए।

– ४ –

इस प्रकार कर्मयोग या कर्मनिष्ठा के आचरण से साधक को क्रमश: ऐसी 'सिद्धि' प्राप्त होती है – इतना बताने के बाद प्रभु आगे कहते हैं – **सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे** – अर्थात् – ''हे अर्जुन, इस प्रकार सिद्ध हुए साधक को ब्रह्म की प्राप्ति किस तरह होती है, यह तुम मुझसे भलीभाँति समझ लो।''

* * *

इस मंत्रार्थ का – प्रभु के इस विधान का भावार्थ स्पष्ट करते हुए ज्ञानेश्वर महाराज अपनी विशिष्ट शैली में कहते है कि कर्माचरण से जैसे प्रत्यक्ष रूप में ब्रह्म प्राप्ति नहीं होती, उससे सिर्फ धीरे धीरे चित्तशुद्धि या वैराग्यरूप सिद्धि का लाभ होता है, वैसे ही वैराग्य-सिद्धि प्राप्त होनेवाले को भी ब्रह्मप्राप्ति सहसा ही नहीं हो जाती, बल्कि प्रगति के विशिष्ट क्रम से होती है। महाराज कहते हैं – **कां उदयजतांचि दिवो मध्यान्ह होय?** अर्थात् – उषाकाल खत्म होकर सूर्य उगने के साथ ही क्या तत्काल् मध्याह्न हो सकता है? वैसे ही 'ईश्वर को सब कुछ अर्पित करके' कर्म करने का फल तो 'अचल वैराग्यपद' है, उसे प्राप्त करने का अर्थ 'आत्मसाक्षात्कार के लिए बस उचित साधन-सामग्री प्राप्त करना मात्र है। **तैसा वैराग्याचा बोलावा । विवेकाचा तो दिवा । आंबुथितां आत्मठेवा । काढीचि तो** – अर्थात् – ''वैराग्य का आश्रय तथा विवेक का दीपक (कर्माचरण से प्राप्त) इन साधनों द्वारा वह आत्मरूपी धरोहर को प्राप्त करता है।'' इन साधनों से उसमें 'आत्मऋद्धि' या आत्मा का ऐश्वर्य भोगने की योग्यता आ चुकी होती है। इसलिए अब भगवान अर्जुन से बोले – **जेठे क्रमे ब्रह्म । होणे करी गा सुगम । तथा क्रमाचें वर्म । आईक सांगो** – ''वह योग्य साधक जिस क्रम से सहजतापूर्वक ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, उस क्रम का रहस्य मैं तुम्हें बताता हूँ।''

– ५ –

कर्मनिष्ठाजनित सिद्धि की प्राप्ति से ब्रह्मप्राप्ति तक के मार्ग पर चलने का कौन-सा तथा कैसा 'क्रम' प्रभु ने बतलाया है? प्रभु कहते हैं –

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तः धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन् विषयान् त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ।।
विविक्तसेवी लघ्वाशी यत-वाक्काय-मानसः ।
ध्यानयोग-परो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ।।
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य, निर्ममः शान्तः ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।

* * *

भगवान अब साधना का मार्ग बताना आरम्भ कर रहे हैं। अर्थात् अब वे हमें अनुभूति के अधिकाधिक गूढ़-गहन प्रदेश की वार्ता बता रहे हैं। एक दृष्टि से ब्रह्म के स्वरूप की कल्पना करना सरल कहा जा सकता है, परन्तु साधना के रहस्य को प्रस्तुत करना बड़ा कठिन है। इसीलिए हम श्री शंकराचार्य, ज्ञानेश्वर महाराज, श्री रामानुजाचार्य, श्रीधर स्वामी, मधुसूदन सरस्वती, शंकरानन्द सरस्वती आदि निपुण-सिद्धि-साधना-रहस्यज्ञों के चरण-चिह्नों का अनुसरण करते हुए गुरुकृपा के विश्वास पर, प्रभु द्वारा कथित इस साधना के मर्म को प्रस्तुत करने का यथासम्भव प्रयास करेंगे।

* * *

प्रभु बताते हैं –

वह कर्मसिद्ध साधक 'अति शुद्ध बुद्धिवाला हो जाता है।'

अर्थात् क्या होता है – यह स्पष्ट रूप से बताते हुए श्री शंकराचार्य कहते हैं कि उसकी बुद्धि में पक्का, दृढ़ निश्चय हो जाता है कि मैं तथा जगत् या विषयी तथा विषय – ये सभी नाम-रूपात्मक व मिथ्या हैं और वे एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द परमात्मा ही नामों तथा रूपों में व्यक्त हो रहे हैं। क्योंकि इसी बोध से वह अब तक कर्म करता आ रहा है। संक्षेप में, कर्म करते समय उस साधक का 'मैं और मेरा नहीं, बल्कि प्रभो, तू और तेरा' – यह ज्ञान-भक्तियुक्त बोध दृढ़ हो जाने से अब वह इस सत्य के बारे में बिल्कुल निश्चित हो चुका होता है। मधुसूदन तथा शंकरानन्द कहते हैं – अब उसे इस सत्य का बोध होना आरम्भ होता है कि 'मैं नहीं तू ही है, तू ही मेरे रूप में विराजित है' ('अहं ब्रह्मास्मि' या 'तत्त्वमसि'), इस विषय में अब उसे थोड़ी-सी भी शंका-सन्देह-विपर्यय नहीं रह जाता। रामानुज भी दूसरे शब्दों में यही बात कहते हैं। ज्ञानेश्वर कहते हैं – पतिव्रता स्त्री जैसे मायके तथा ससुराल – दोनों का ही अभिमान तजकर अपने प्रिय प्राणनाथ के चिन्तन में लीन होती है, वैसे ही सत्यासत्य-विवेक से शुद्ध हुई बुद्धि (या बोध) 'मैं' तथा 'जगत्' के प्रति आसक्ति को त्यागकर उन परम प्रेमास्पद चैतन्यनाथ के चिन्तन में तल्लीन हो जाती है।

सारांश यह कि स्वकर्म करते समय साधक जिस 'मैं और मेरा नहीं, बल्कि प्रभो, तू और तेरा' – इस विश्वास के साथ कर्म कर रहा था, वह विश्वास अब तक के कर्माचरण से उसके चित्त को क्रमश: शुद्ध करने के कारण अब 'विश्वास' न रहकर 'अनुभव' का रूप लेने लगता है; जिस सत्य पर उस साधक का अब तक केवल विश्वास था, उस सत्य की अब उसे प्रतीति होने लगती है। (कर्मनिष्ठा में ऐसी ही सामर्थ्य है !)

तो इस भाँति कर्मानुष्ठान करने से बुद्धि के अत्यन्त शुद्ध हो जाने से उस साधक को अब ईश्वर का बोध होना शुरू हो जाता है। और ईश्वर का तो स्वरूप ही सत्-चित्-आनन्द है। ऐसे ईश्वर का बोध आने का अर्थ है स्वयं के सत्ता में स्थित उन स्वात्मरूप प्रभु की आनन्दमयता के बोध का स्फुरण होना। सारांश यह कि उस भाग्यवान साधक को अब स्वयं की सत्ता में स्थित स्वात्म-स्वरूप के आनन्द की अनुभूति होने लगती है। और यह आनन्द-बोध अन्तर में स्थित आनन्दकन्द का यह 'आभास' उस साधक को फिर और आगे ले जाने लगता है, साधना के मार्ग पर तेजी से अग्रसर होने को प्रेरित करने लगता है। वस्तुत: वह विवेक-वैराग्य-वान साधक उस आनन्द का स्वाद लेते रहने के मोह में नहीं पड़ता। क्योंकि वह जान चुका होता है कि चाहे जितना भी आनन्द मिले, पर वह है तो केवल उस आनन्द-स्वरूप का प्रतिबिम्ब ही। अत: उस आनन्द-प्रतिबिम्ब से मोहित न होकर, वह मात्र उससे प्रेरित-प्रोत्साहित हुआ उस आनन्दबिम्ब की खोज में डूब जाता है।

* * *

इसके बाद क्या होता है?

प्रभु कहते हैं – **धृत्या आत्मानं नियम्य च ...** – "धृति अर्थात् धैर्य के साथ वह स्वयं के अर्थात् अपने शरीर-इन्द्रिय-मन का नियमन करता है।"

क्योंकि, उसे अन्दर ही अन्दर यह बोध होता रहता है कि मैं यदि इस शरीर-इन्द्रियों या मन से इन असत्य विषयों की ओर आकर्षित होता चला गया, तो उस आनन्दबिम्ब में पूर्णत: डूब जाना सम्भव नहीं हो सकेगा, उन सच्चिदानन्द प्रभु से मेरा योग नष्ट हो जाएगा। अत: प्रभु से 'वियुक्त' करनेवाली शरीर-मन-इन्द्रियों की सारी भटकनें स्वयं में उदित हुई आनन्द-गर्भित विवेक-ज्ञान से रुक जाती हैं – अधिक अन्तर्मुख होकर उन सत्-चित्-आनन्द में अधिक निमग्न होने की शुभ अभिलाषा से वह अपने देह-मन तथा सभी ज्ञान-कर्मेन्द्रियों की बहिर्मुखी बनानेवाले विषयों के प्रति भोग-स्पृहात्मक रुचि तथा गति को स्वयं में व्याप्त विवेकबोध से दूर हटाता रहता है।

शरीर-इन्द्रिय-मन का इस प्रकार विषयों में भटकन को

स्वामी विवेकानन्द के प्रति

कुमारी मनीषा, राँची

हे 'विवेक-आनन्द', कन्द सत्प्रेम, सुमति सुखदायक।
वरदपुत्र श्रीरामकृष्ण के, अभिनव ऋषिकुलनायक।।
हे वागीश, विरति व्रतधारी, कर्म-धर्म उद्बोधक।
हे 'नरेन्द्र', नरसिंह नरोत्तम, निगम नीतिपथ शोधक।।
हे वेदान्त-ज्ञान-अधिनायक भक्तियोग-उद्गाता।
जगप्रसिद्ध गौरव गुणसागर, ज्ञानिश्रेष्ठ विख्याता।।
यतिकुलश्रेष्ठ शास्त्र-श्रुतिधारक, आत्मबोध वरदायी।
जनमन-रंजन भवभय-भंजन, सच्चित्-शिवपददायी।।
गुरु चरणों पर तन-मन वारा, बने परम विज्ञानी।
ज्ञानामृत बाँटा जन-जन में, बनकर अवढ़र दानी।।
किया चमत्कृत जनमानस को, अपनी ज्ञान विभा से।
उपकृत है सम्पूर्ण जगत् तेरी पावन प्रतिभा से।।
श्रद्धा सुमन समर्पित स्वामिन् जन्म-दिवस पर तेरे।
बाल विनय स्वीकार करें, हैं दोष जदपि बहुतेरे।।
संस्थापित हो धर्मतन्त्र, सब बनें सुपथ अनुगामी।
भारत बने जगद्गुरु फिर से, यही मनोरथ स्वामी।।

रुद्ध कर सकनेवाले विवेकजनित मन:शक्ति को ही प्रभु ने 'धृति' या धैर्य कहा है।

इस दृष्टि से देखने पर, शरीर-इन्द्रिय-मन द्वारा उसका विषयों से 'वियोग' भगवान से उसके 'योग' की सकारात्मक अवस्था का ही नकारात्मक रूप कहा जा सकता है। और यह (सकारात्मक मन:स्थिति का नकारात्मक रूप होना) मात्र उसके शरीर-इन्द्रिय-मन के नियमन पर ही नहीं, बल्कि उसकी अब तक की सम्पूर्ण साधना पर लागू होता है। कर्मनिष्ठा से सिद्ध या शुद्ध होकर उस सत्-चित्-आनन्द स्वरूप स्वात्मा का, उस अन्तर्यामी का (चींटी को शक्कर के समान) आभास मिल चुका होता है, इसलिए उस सच्चिदानन्द में अधिकाधिक डूबने के मार्ग में जो कुछ प्रतिकूल है, उसका स्वयं ही वर्जन करता जाता है। कहना न होगा कि अभी भी 'साधक' ही होने के कारण उसे इन सारे कार्यों के लिए 'यत्न' करना पड़ता है – प्राणपण से चेष्टा करनी पड़ती है। तथापि कर्मनिष्ठा के उद्यम-पूर्ण साधना में तथा कर्मसिद्धि की अन्त:स्फूर्त साधना में 'स्तर' या 'सहजता' की कमी या अधिकता का भेद तो रहेगा ही। इसीलिए तो इस साधक को प्रभु ने 'सिद्ध' कहा है। कर्मसिद्ध साधक के 'अनुभूति का द्वार' खुल चुका होता है।

तो वह इस पद्धति से शरीर-इन्द्रिय-मन का नियमन करता है अर्थात् वह वस्तुत: क्या करता है?

भगवान बताते हैं – **शब्दादीन् विषयान् त्यक्त्वा, सम द्वेषौ व्युदस्य च** – अर्थात् वह 'शब्द-स्पर्श आदि भोग्य वस्तुओं का त्याग करता है और उनके विषय में पसन्द-नापसन्द या रुचि-तिरस्कार भी छोड़ देता है।''

ठीक ही तो है, क्योंकि किसी भी भोग को भोगने पर यह बन्धन तो उत्पन्न ही होगा कि भोक्ता-भोग्य-भोग सत्य हैं। पर अब उसे बन्धन अच्छा नहीं लगता, उसे मुक्ति चाहिए – अब वह उन सच्चिदानन्द में पूर्णत: डूबकर स्व-स्वरूप की चिर-कृतार्थता प्राप्त करने के लिए अधीर हो चुका होता है, अत: अब वह भोग के सारे विषयों को दुत्कार देता है।

और प्रभु बताते हैं कि इस भोग का त्याग वह केवल शरीर से ही नहीं, बल्कि मन से भी करता है। वह केवल भोगों के विषय ही नहीं, बल्कि भोग की इच्छा या प्रवृत्ति भी त्याग देता है, क्योंकि अब उसके अन्तर में स्पष्ट बोध होने लगता है कि मन में इस भोगप्रवृत्ति को स्थान देने से वह विक्षिप्त होकर उन एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द से विलग हो जायेगा। उसकी यह स्वात्माकांक्षा, यह सत्याकांक्षा उसे बाह्य स्थूल भोग्य विषयों तथा अन्दर की सूक्ष्म भोगवृत्तियों को खुशी खुशी दुत्कारने को प्रेरित करती है। (गीता ने कितने ही सटीक शब्दों का प्रयोग किया है ! भोग्य विषयों के विषय में **त्यक्त्वा** यानी त्याग देना एवं भोग-लालसा के विषय में **व्युदस्य** यानी निकाल देना – ऐसे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सार्थक शब्दों का प्रयोग हुआ है।)

(विषयों को बाहर से छोड़ दें, तो भी उन्हे मन से पकड़े रहना सम्भव है। यह तो हुआ त्याग का 'स्वाँग'। और ऐसा कहना कि हमने मन से त्याग कर दिया है, बाहर के भोग्य विषयों को छोड़ना अनावश्यक है तथा सम्भव भी नहीं है – यह हुआ 'ढोंग'। इस तरह के स्वाँग या ढोंग से भला उन सत्य-स्वरूप भगवान की प्राप्ति कैसे हो सकेगी? इस साधक का मन तथा मुख एक हो चुके होते हैं, अत: वह आत्मवंचना नहीं करता और इसलिए उसके द्वारा इस तरह के 'स्वांग-ढोंग' होना सम्भव ही नहीं। **जिन्हें सत्य की चाह नहीं है, सत्य के बारे में सच्ची बेचैनी नहीं, वे ही स्वांग तथा ढोंग करते रहते हैं।** इसीलिए भगवान स्वयं कहते हैं कि सत्याकांक्षी साधक सत्य-प्राप्ति के लिए अन्दर तथा बाहर दोनों ओर से भोगों को त्याग देता है। इसीलिए गीता ने इन शब्दों का प्रयोग किया है – **धृत्या आत्मानं नियम्य** – ''विवेकजनिन धैर्य से स्वयं का नियमन करके।'' 'स्व' में अपरिहार्य रूप से भीतरी व बाहरी, दोनों ही भाग आते हैं – 'स्व'रूपी कागज के ये दो पहलू हैं। और कागज को एक ही ओर से भला कैसे फाड़ा जा सकेगा?)

अस्तु, इस कर्मसिद्ध साधक के इस त्याग के बारे में साधन-रहस्यज्ञ श्री शंकराचार्य जो कहते हैं कि वह साधक विषयों का अन्तर्बाह्य त्याग करता है, इसका अर्थ यह नहो कि वह खाता-पीता तक नहों। बल्कि, **शरीरस्थितिमात्रान् केवलान् भुक्त्वा, ततः अधिकान् सुखान् त्यक्त्वा इति अर्थः** अर्थात् – ब्रह्मप्राप्ति के उपकरण-रूप देह को जीवित रखने मात्र के हेतु बिल्कुल आवश्यक वस्तुओं के अलावा सुख-आराम-विलास आदि के लिए लगनेवाली अन्य वस्तुओं को वह त्याग देता है।'' और **शरीरस्थिति-अर्थत्वेन प्राप्तेषु च रागद्वैषौ व्युदस्य च परित्यज्य** – शरीर को बनाए रखने हेतु आवश्यक उन स्वीकार की गयी चीजों के प्रति वह रुचि-अरुचि का भाव नहो रखता।'' क्योंकि पसन्द या नापसन्द, दोनों कहने से उस पसन्द या नापसन्द वस्तु की सत्यता का बोध आ ही जाता है।

प्रभु की प्राप्ति के लिए ऐसा त्याग तथा ऐसी त्यागवृत्ति आए, तभी तो वे मायातीत प्रभु साधक की अन्तरात्मा में प्रगट होंगे? ऐसा व्यर्थ दावा करके कि 'मैं संन्यासी हूँ, मै यथेच्छा आचरण करूँगा' या फिर ऐसा हुल्लड़ मचाने से क्या होगा कि 'मैं संसार में रहकर ही धर्म करूँगा, मै संसार में रहकर हो धर्म करूँगा'? प्रश्न है ध्येय की प्रामाणिकता का। तुम संन्यासी हो या गृहस्थ, पुरुष हो या स्त्री, विद्वान् हो या अपढ़ – कैसे भी या कोई भी हो, सत्य किसी के साथ समझौता नही करता; तुम चाहे जो भी क्यों न होओ, तुम्हें सत्य के समक्ष सिर झुकाना ही होगा। अर्थात् यदि सत्य चाहिए तो।

* * *

❖ (क्रमशः) ❖

वैदिक देववाद : उद्‌भव और विकास

डॉ. सुचित्रा मित्रा, वरिष्ठ प्रवक्ता, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

वेदों में देवताओं के सम्बन्ध में क्या धारणा थी और यह धारणा किस प्रकार स्थूल से सूक्ष्म की ओर विकासित हुई – यही वर्तमान प्रबन्ध का विषय-वस्तु है।

ऋग्वेद में सामान्यत: विभिन्न देवताओं की स्तुतियाँ निबद्ध हैं, जिनमें अग्नि, इन्द्र, वरुण, मित्र, रुद्र, मरुत्, विष्णु आदि उल्लेखनीय हैं, और कहीं कहीं तो इन देवताओं की सामूहिक रूप से स्तुति भी वर्णित है। ये सूक्त विश्वेदेवा सूक्त कहलाते हैं। द्युतिमान होने के कारण ये देव कहे जाते हैं। निरुक्तकार यास्क कहते हैं – **द्यु = चमकना, द्योतते इति सत: –** चमकता है अत: द्यु कहा जाता है, और **देवं द्युतिं तनोति** – प्रकाश फैलानेवाले को देवता कहते हैं। वैदिक ऋषि प्रत्येक देवता को किसी-न-किसी प्राकृतिक शक्ति का प्रतिनिधि मानते हैं। यथा – **इन्द्र** प्रकाश के देवता तथा वर्षा करानेवाले देव कहे गए हैं। इसीलिए उन्हें **सप्त रश्मि:** – सात किरणोंवाले तथा कभी उन्हें – **य: सूर्यम् य: उषसम् जजान** – सूर्य तथा उषाओं को उत्पन्न करनेवाला कहा गया है। इन्द्र को – **यो अपां नेता स जनास इन्द्र:** – जलों का नेतृत्व करनेवाला भी कहा है। फिर मरुत् विद्युत् का प्रतिरूप हैं। **सवितु देवस्य प्रसवे** – सविता-देव लोगों को प्रेरणा देते हैं। विष्णु **परमं पदमवभाति भूति** – प्रकाश के अधिपति हैं और मित्र तथा वरुण क्रमशः दिन व रात्रि के प्रतिनिधि देवता कहे गये हैं।

ये देवगण सदैव मनुष्यों का कल्याण ही करते हैं। यथा – कहा गया है कि वज्रधारी इन्द्र ने वर्षा को रोकनेवाले 'अहि' पर वज्र का आघात किया और उसे मारकर सात जल-धाराओ को प्रवाहित कर दिया था – **यो अहिं हत्वा सप्तसिन्धून् अरिणात्**। ये सभी देवता एक के बाद एक क्रमश: पौराणिक कथाओं के माध्यम से लोक-हितकारी कार्यों का सम्पादन करते हुए दिखते हैं और वैदिक ऋषिगण भी उन देवताओं के लिए यज्ञ-वेदी बनाते हैं और उनके प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करने के लिए यज्ञ के माध्यम से उन्हें अपने पास बुलाते हैं। यथा – ऋग्वेद में वर्णित है, इन्द्र देवता सोमपान करने के लिए आतुर रहते हैं। इनके लिए यह वाक्य मिलता है – **य: सोमपा निचित:** – अर्थात् इन्द्र देवता सोमपान के लिए प्रसिद्ध है, इसलिए उन के लिए सोमलता का रस निचोड़कर नैवेद्य तैयार किया जाता था। इन्द्र चूँकि अपने भक्तों की रक्षा करते हैं, इसलिए उन्हें महान् शक्ति सम्पन्न देवता कहा गया है, उनके लिए वृषभ:, तुविष्मान् आदि विशेषण शक्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

ऋग्वेद में **वरुण** भी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देवता कहे गए हैं। ये भी महाशक्ति-सम्पन्न हैं, तथा अन्य देवताओ की भाँति ही अपने भक्तों की रक्षा करते हैं। "**धीरा तु अस्य महिमा जनूंषि**" (ऋ. ७/८६/१) – अर्थात् लोग इनकी महिमा से बुद्धिमान हैं। इसी प्रकार वेदों में क्रमश: विभिन्न देवताओं की महिमा वर्णित है।

ऋग्वेद में देवताओं की जो विशेषताएँ वर्णित हुई हैं, उसके अनुसार एक ओर प्रत्येक देवता देहधारी रक्षक या शासक की भाँति प्रतीत होते हैं, तो दूसरी ओर उन्हें सर्वशक्तिमान तथा सर्वान्तर्यामी आदि विशेषणों से भी विभूषित किया गया है। जैसे – **विष्णु** देवता को एक ओर तो दयालु कहा गया है, जो लोगों के लिए मधु की भाँति दया वर्षित करते हैं – "**यस्य त्री पूर्णा मधुना पदानि अक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति**" (ऋ. १/१५४/४); वही दूसरी ओर उन्हें इतना शक्तिमान देवता कहकर सम्मानित किया गया है कि उनके तीनो पद-न्यासों में पृथ्वी-लोक, अन्तरिक्ष-लोक तथा द्युलोक समाया हुआ है – **यस्य उरूषु त्रिषु विक्रमणेषु विश्वा भुवनानि अधिक्षियन्ति** (ऋ. १/१५४/२)।

इसी तरह **इन्द्र** देवता का देहधारी रूप वर्णित है यथा **वज्रबाहु:** – वज्र के समान बाहुओंवाले, **सुशिप्र:** – सुन्दर कपोलवाले, **सोमपा** – सोम-पान करनेवाले, **वृत्रहा** – वृत्रासुर का वध करनेवाले कहे गए हैं। अन्यत्र उन्हें सर्वशक्तिमान कहकर अति उच्च पद दिया गया है।

अथर्ववेद की इन पंक्तियों में **वरुण** देवता के विषय में कहा गया है – **बृहन्नेषाम् अधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति। ... द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेव वरुणस्तृतीय:। उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौर्वृहती दूरेअन्ता।** (अथर्ववेद ४/१६)। यहाँ वरुण देवता के सर्वोच्च स्वरूप को कुछ इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है – "ये शक्ति-सम्पन्न प्रभु स्वर्ग से हमारे कार्यों को अपनी आँखों के सामने होता हुआ-सा देखते हैं। जब कभी दो मनुष्य गुप्त मंत्रणा करते हैं और सोचते हैं कि हम अकेले हैं, तो वहाँ तीसरे राजा वरुण भी होते हैं।" फिर उनकी महत्ता का वर्णन करते हुए यह भी कहा गया है – "यह वसुधा उनकी है, यह विस्तीर्ण अनन्त आकाश भी उन्हीं का है" आदि आदि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक देवता पहले तो देवता रूप में प्रकट होते हैं अर्थात् भक्तों पर कृपा करनेवाले कहे गये हैं और तदुपरान्त उन्हें सर्वोच्च पद देकर, एक ऐसे सत्ता-

सम्पन्न शासक समझे गये हैं, जिनमें समस्त ब्रह्माण्ड अवस्थित है, जो प्रत्येक के हृदय में देखनेवाले साक्षी हैं और विश्व के ईश्वर हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक देववाद बहु-देववादी विचारधारा से उद्भूत होता है और क्रमशः एकेश्वरवादी विचारधारा में परिणत हो जाता है। अर्थात् वेदों में धीरे धीरे एक सगुण शासक का भाव ही ईश्वर-सम्बन्धी उच्चतम आदर्श बन जाता है। तब देवताओं के बारे में यह अवधारणा बन जाती है कि 'जिसे लोग इन्द्र, मित्र, वरुण कहते हैं, वह सत्ता केवल एक है, ऋषिगण उन्हें विभिन्न नामों से पुकारते हैं' –

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु-
रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति-
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।। (ऋ. १/१६४/४६)

इस प्रकार वेदों में प्रत्येक देवता को उच्च पद देकर उनके भावों का अनन्त विस्तार किया गया और सभी देवों को एक रूप मानकर उन्हें ब्रह्माण्ड की सभी वस्तुओं की उत्पत्ति का मूल कारण बताया गया है।

परन्तु आर्यों के मन को एकेश्वरवादी विचारधारा अत्यन्त मानुषिक प्रतीत हुआ। ईश्वर विधाता है, जगत् के शासनकर्ता हैं, नैतिक नियमों का पालन करानेवाले हैं – केवल इतना ज्ञान होने से ही जगत्-विषयक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्नों का हल नहीं हो जाता है। इसलिए वेदों में एक समय वह भी आता है, जिसे **सम्प्रश्नवाद** का समय कहते हैं, उस समय ऋषियों के मन में तरह तरह के प्रश्न उठते हैं, यथा – यह विश्व कहाँ से आया है? कैसे आया है? यह कैसे स्थित है? जब इन प्रश्नों का समाधान नहीं मिल पाता, तब ऋषिगण अपने मन के अनुत्तरित प्रश्नों को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं –

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं
नासीद्रजो नो व्योमा परोयत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्
अम्भः किमासीत् गहनं गभीरम्।
न मृत्युरासीत् अमृतं न तर्हि
न राज्या अह्न असीत्प्रकेतः।। (ऋ. १०/१२९)

अर्थात् – "उस समय न सत् था न असत्, न वायु थी न आकाश, न अन्य कुछ; यह सब कुछ किससे ढका हुआ था? सब किसके आधार पर स्थित था? तब मत्यु नहीं थी, न अमरत्व ही, न रात्रि और न दिन का परिवर्तन ही था।"

यहाँ पर कहा गया है सत् नहीं था, तो क्या असत् था? परन्तु कहा गया है असत् भी नहीं था, तो क्या सत् था? इन दोनों वाक्यों में सामञ्जस्य इस प्रकार स्थापित किया जा सकता है कि तब मात्र एक भाव-रूप अव्यक्त तत्त्व विद्यमान था। वह सत्य रूप प्राणवायु ही अव्यक्त तत्त्व था, जो आवरण के रूप में ईश्वर को ढँके हुए था, इसलिए मंत्र में कहा गया है – **आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास** – उसके अलावा कुछ भी नहीं था, अर्थात् वह सत्ता निष्क्रिय थी, अचल थी, निस्पन्द थी और जब सृष्टि आरम्भ हुई, तब वह स्पन्दित होने लगी। उसी शान्त अद्वितीय सत्ता से यह सृष्टि प्रकट हुई। कहते हैं – पहले अन्धकार से ढँका हुआ अन्धकार था – **तमासीत् तमसा गूढमग्रे**। तो यह सृष्टि प्रक्रिया में कैसे आयी? सृष्टि का कारण '**इच्छा**' बताया गया है। जो सबसे पहले अस्तित्व में था, वही इच्छा में परिणत हो गया और वह इच्छा कामना के रूप में प्रकट होने लगी। कहते हैं –

कामस्तदग्रे समवर्तताधि
मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्
हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा।।

– "पहले इच्छा की उत्पत्ति हुई, जो मन का प्रथम बीज है। ऋषियों ने अपने मन में प्रज्ञा द्वारा खोजते खोजते सत् और असत् के बीच के सम्बन्ध का पता लगाया।"

इसका तात्पर्य यह है कि एक भाव-रूप अव्यक्त तत्त्व ही था, जो सत् और असत् के बीच का सम्बन्ध है। वही प्राण-रूपी जीवन तत्त्व है। वेदों में उस प्राण-तत्त्व का इतना विकास किया गया है कि अन्त में वह विश्वव्यापी और अनन्त बन गया। वह प्राण-तत्त्व केवल मानव शरीर को ही नहीं, अपितु सूर्य और चन्द्रमा की भी ज्योति है, ऋषि कहते हैं – **यत्राधि सूर उदितो विभाति**; वही प्रत्येक वस्तु को चलानेवाली शक्ति है, कहते हैं – **मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ई शृणोत्युक्तम्** (ऋ. १०/१२५/४) – एकमात्र उसी की शक्ति से मनुष्य भोजन, दर्शन, प्राणन आदि सब करता है। इस प्रकार सृष्टि-प्रक्रिया के पीछे भाव-रूप अव्यक्त-तत्त्व या प्राणतत्त्व की धारणा, जो ऋषियों के मन में उठी थी, उस भाव का उन्होंने यहाँ तक विस्तार किया कि अन्ततः उसने विश्वेश्वर का स्थान प्राप्त कर लिया। **प्रजापति** देवता वही देव हैं, जिनमें आदि-पुरुष की कल्पना करते हुए ऋषि कहते है –

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे
भूतस्यजातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथ्वीं द्यामुतेमां
कस्मै देवाय हविषा विधेम।।
य आत्मदा बलदा यस्य विश्व
उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः
कस्मै देवाय हविषा विधेम।। (ऋ. १०/१२१/१)

– "सृष्टि के पहले उसी एक का अस्तित्व था। वही सब पदार्थों का एकमात्र अधीश्वर है। वही इस विश्व का आधार है।

वही जीव-सृष्टि का जनक है। वही सारी शक्तियों का मूल है। देवी-देवता उसी की पूजा करते हैं। जीवन जिसकी छाया है, मृत्यु जिसकी छाया है, उसको छोड़कर हम अन्य किस देवता के लिए हविष्य का विधान करें?''

परन्तु आर्य-ऋषियों का मन देव-विषयक इस चिन्तन से भी सन्तुष्ट नहीं हुआ, क्योंकि इससे सृष्टि-विषयक समस्या का हल नहीं हो सका। इसका कारण यह है कि ईश्वर की कल्पना केवल बाह्य जगत् में करने से, यह सृष्ट जगत् उन ईश्वर से अलग प्रतीत होता है। तब ईश्वर की कल्पना एक शिल्पी के रूप में हो जाती है। जैसे एक शिल्पी सामग्रियों से वस्तु का निर्माण करता है, वैसे ही ईश्वर भी मानो इस सृष्टि की रचना करते समय कई उपादानों की सहायता लेते हैं। लगता है कि ईश्वर ने इच्छा-शक्ति तथा कामना-रूपी उपादानों से सृष्टि-रचना की है। ईश्वर के बारे में इस प्रकार की अवधारणा करने से, ईश्वर अलग तथा उनके द्वारा उत्पन्न सृष्टि अलग तत्त्व प्रतीत होता है। इसे सृष्टि-रचनावाद का सिद्धान्त (Disign Theory) कहते हैं। स्वामी विवेकानन्द जी कहते हैं, ''इस प्रकार से सृष्टि-रचनावाद का सिद्धान्त मानने से ईश्वर स्वयं सृष्टि का कारण न होकर उपादानों से मर्यादित हो जाते हैं।''[१] परन्तु ईश्वर परतंत्र नहीं हैं, वे तो स्वतंत्र है, किसी के द्वारा सीमित हो नहीं सकते, ईश्वर सर्वज्ञ हैं, सर्वत्र रहते हैं। कहा भी गया है – **पुरुष एव इदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।**

इसलिए प्राचीन ऋषियों ने यह विचार किया कि ईश्वर स्वयं ही जगत् रुप में अभिव्यक्त हैं ऐसा मानने से ईश्वर तथा जगत् दोनों में अभेद प्रतीत होता है। कहना चाहिए प्राचीन आर्य ऋषियों ने देवता सम्बन्धी उस पुरानी विचारधारा को लेकर उसका संस्कार किया, वह इस रूप में कि ईश्वर ने जगत् की रचना नहीं कि अपितु ईश्वर स्वयं ही जगत् हैं, जगत् रूप में विराजमान हैं। ईश्वर ही जगत् रूप में अभिव्यक्त हैं। पुरुष-सूक्त में कहा गया है –

सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।।

– ''पुरुष हजारों सिरोंवाला, हजारों नेत्रोंवाला तथा हजारों पैरोंवाला है। वह भूमि को सब ओर से आवृत्त कर उससे दस अंगुल ऊपर अवस्थित हो गया।''

यहाँ सहस्त्र शब्द प्रतीकात्मक है। कहने का तात्पर्य यह है कि ईश्वर नाना रूपों में दिखाई देते हैं। फिर भी दस अंगुल ऊपर तक चले गए हैं, अर्थात् ईश्वर सर्वत्र व्याप्त हैं। इस जगत् के परे भी यदि कुछ है तो वहाँ भी ईश्वर का ही अस्तित्व है। उपनिषदों में इसी विचार का विस्तार हुआ, जहाँ कहा गया है – **ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।** जो कुछ भी है वह सब ईश्वरमय है। भेद जैसा कुछ है ही नहीं। ईश्वर परिपूर्ण हैं, अतः उनसे अभिव्यक्त यह जगत् भी परिपूर्ण है। ईश्वर से जगत् को अलग करके सोचा ही नहीं जा सकता –

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

पूर्ण से पूर्ण को अलग करने से पूर्ण ही शेष रह जाता है। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे समुद्र में बुलबुले उठते हुए दिखाई देते हैं, पर ये बुलबुले समुद्र से कहीं अलग नहीं जाते, वरन् उसी में विलीन हो जाते हैं। इसी प्रकार जगत् भी ईश्वर से अलग नहीं है, इसे तो ईश्वर में ही विलीन होना है।

सारांश यह हुआ कि देवतावाद का वह सिद्धान्त, जिसमें प्रत्येक देवता को किसी-न-किसी प्राकृतिक शक्ति का अधिपति माना गया अथवा जिसमें बाह्य जगत् में ईश्वर की अनुभूति की गई – यह ज्ञान प्राचीन ऋषियों को सन्तुष्ट नहीं कर सका, अतः उन्होंने अपने अन्तर में ईश्वर की अनुभूति की और पाया कि सब कुछ ईश्वरमय है, इसलिए मनुष्य मनुष्य के बीच कोई भेद नहीं है। सर्वत्र एक हृदय, एक मन तथा एक ही प्राण है। ईश्वर ही अपनी महिमा से नाना रूपों में विराजित हैं।

यही हमारे भारतवर्ष की विशेषता है कि यहाँ ईश्वर की अखण्डता पर बल दिया गया है। यही सनातन धर्म है, जिसकी बुनियाद इतनी मजबूत है कि शताब्दियों तक चले विदेशी आक्रमणों के बावजूद यह विश्वास आज भी अक्षुण्ण है और वह यह है कि 'सत्य एक है जो सबके अन्तःकरण में समान रूप से विराजमान है।'

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।।
(ईशोपनिषद, ५)

सारे सक्रिय जीव ब्रह्म ही हैं। जिनमें क्रिया नहीं होती, ऐसे स्थावर भी ब्रह्म ही हैं। वह सत्य सबके अन्तःकरण में है और सबके बाहर भी है। इसी कारण हमारे देश में आदर्श है, शृंखला है, सहिष्णुता है। कहा जा सकता है कि धार्मिक सहिष्णुता ही हमारे देश का आदर्श रहा है। हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई और उनके धर्मो के प्रति हम आज भी सम्मान प्रदर्शित करते हैं, क्योंकि प्राचीन ऋषियों ने हमें सिखाया है कि सत्य एक है। **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** – जब सब कुछ ब्रह्ममय है, तब हम किसको किससे अलग करके देखें? बल्कि हम तो मन-ही-मन यही कहते रहें – एक साथ चलें, समभाव से बोलें तथा एक मन होकर रहें – **सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।** (ऋग्वेद - १०/१९१/१)

❑❑❑

१. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड-१, पृ. २५०

स्वामी ब्रह्मानन्द जी के संस्मरण

स्वामी पुरुषोत्तमानन्द

वशिष्ठ गुफा आश्रम, टिहरी गढ़वाल (उत्तरांचल)

जब मैं लगभग १४ साल का विद्यार्थी था, तभी मैंने अपने स्कूल के प्रधान शिक्षक महोदय से श्रीरामकृष्ण देव का नाम सुना। उसी क्षण से मैं श्रीरामकृष्ण के प्रति आकर्षण और भक्ति का अनुभव करने लगा। मैं प्रबुद्ध भारत में लेख इत्यादि देने लगा। लगभग सन् १९१० में मैं श्री तुलसी महाराज (स्वामी निर्मलानन्द जी) से मिला, जिन्हें हरिपाड़ में आमंत्रित किया गया था। उन्होंने मुझे अपनी शरण में ले लिया और 'भक्त नीलकण्ठ' नाम दिया। उन्होंने मुझे कार्य करने के लिए और कुछ लड़कों को प्रशिक्षण देने के लिए कहा, जिनमें से कुछ अब भी कुछ आश्रमों में प्रधान हैं। तिरुवल्ला में हमारी एक सभा थी। उस समय के तिरुवल्ला के मुंसिफ श्री एम. आर. नारायण पिल्लै श्रीरामकृष्ण के बड़े भक्त थे और तुलसी महाराज के निर्देशन में हमने तिरुवल्ला में एक आश्रम बनाने का कार्य प्रारम्भ किया, जिसकी नींव १९११ ई. में स्वयं उन्ही के द्वारा डाली गई। फिर १९१३ ई. में उन्ही के द्वारा उस आश्रम का उद्‌घाटन भी किया गया। मुझे तिरुवल्ला के आश्रम का और डॉ. चेलप्पा (बाद में स्वामी चित्सुखानन्द) को हरिपाड के आश्रम का कार्यभार सौंपा गया।

१९१६ ई. में तुलसी महाराज ने हमें लिखा कि वे अध्यक्ष महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द जी) को कन्याकुमारी ले जाना चाहते हैं। मुझसे कहा गया था कि मैं उनका सम्मान करने और उनकी सेवा करने के लिए सीधे अलुवा चला आऊँ। अत: मैं अलुवा पहुँचा और एक दिन सायंकाल में महाराज और उनकी पार्टी अलुवा स्टेशन पर उतरी। पद्मनाभन तम्पी और दूसरे लोगो ने महाराज जी के लिए दो-तीन दिन तक ठहरने के लिए एक बँगले का प्रबन्ध किया था।

मैं कई वर्षो से तुलसी महाराज की सेवा कर रहा था, पर उन्होंने मंत्र या ध्यान के बारे में कुछ भी नहीं कहा था, परन्तु अब सहसा ही उनके मुख से निकला, "भक्त ! तुम्हारे भगवान आ गए हैं। तुम उनकी सेवा करो और दीक्षा ले लो।"

महाराज को आराम पहुँचाने के लिए मैं विभिन्न कार्यों में व्यस्त था। जब कभी मुझे समय मिलता था, तब मैं उनके पास चला जाता और उनके चरणों के पास बैठा रहता। जब मैं उनकी ओर देखता, तो अपनी आँखें नहीं हटा पाता। उस समय मै नहीं समझ सका था कि वह कौन-सी वस्तु थी, जो न केवल मेरे 'नेत्रों' अपितु सम्पूर्ण शरीर को अपनी ओर आकर्षित कर रही थी। वे आध्यात्मिकता के निर्झर थे, सदैव समाधि में स्थित रहते थे। उनके शब्द अल्प और सरल होते थे, परन्तु वे शक्ति से परिपूर्ण होते थे। वे मुझसे पूछा करते थे, "तुम क्या चाहते हो, तुम क्या चाहते हो?" उनकी ओर उत्सुकता से देखते हुए भी मैं अपनी इच्छा व्यक्त नहीं कर सका। मैंने केवल उनसे प्रार्थना की कि वे जो चप्पल पहने थे, उन्हें मुझे दे दें। उन्होंने मुझसे कहा, "मैं ये चमड़े के चप्पल तुम्हे नही दूँगा। मै तुम्हें कलकत्ता से वह खड़ाऊँ भेज दूँगा, जिनका मैं उपयोग किया करता था।" स्वामी शंकरानन्द जी उस समय महाराज के प्राइवेट सेक्रेटरी थे (जो बाद में रामकृष्ण मठ तथा मिशन के अध्यक्ष हुए)। महाराज ने उनसे कहा कहा कि मुझे खड़ाऊँ भेजना न भूलें और उन्होंने बाद में उचित रीति से वे (खड़ाऊँ) मेरे पास भेज दिए थे। मैं जहाँ जाता, उन्हें अपने साथ ले जाता था और इस समय वे तिरुवल्ला के आश्रम मे हैं। मैंने जान-बूझकर उनको वहाँ रखा, ताकि उस स्थान की प्रगति और उन्नति हो।

अलुवा में कई लोग महाराज के पास अपनी श्रद्धा अर्पित करने आए। वे बातचीत से दूर रहने का प्रयत्न करते थे। वे उनको तुलसी महाराज के पास भेज देते थे। वर्षा हो रही हो, तो भी यह स्थान उन्हें बड़ा प्रिय था, विशेषत: नदी का दृश्य उन्हें विशेष रूप से पसन्द था।

अलुवा से स्टीमबोट में हम कोट्टायम की ओर रवाना हुए। महाराज के साथ सुपरिंटेंडेंट ऑफ पुलिस श्री पद्मनाभन तम्पी, मुंसिफ श्री एम.आर. पिल्लै और दूसरे लोग थे। मौसम तूफानी होने के कारण जलयान हिलने-डुलने लगा। रात बेचैनी में बीती, पर दूसरे दिन हम सकुशल कोट्टायम पहुँच गए। महाराज मुझसे कहते रहे, "डरो मत, डरो मत।"

तम्पीजी ने श्री महाराज और उनके दल के सब लोगों को ठहराने के लिए स्थान का प्रबन्ध किया था। वहाँ भी कई स्थानों से कई लोग आकर उनके पास भीड़ लगा देते थे। दो दिन ठहरने के बाद महाराज अपने नीजी सचिव तथा तम्पीजी के साथ मोटर से हरिपाड आश्रम के लिए रवाना हुए। मार्ग में अनेक स्थानों पर, प्राचीन हिन्दू परम्परा के अनुसार दीपो और आरती के द्वारा उनका स्वागत किया गया।

हरिपाड में ब्रह्मचारी चेलप्पा तथा दूसरे लोग बड़ी उत्सुकता से उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे और वे परम्परागत प्रणाली से वैदिक मंत्रपाठ, संगीत तथा अन्य सामग्रियों के साथ उनका स्वागत करना चाहते थे, परन्तु मैंने सुना कि महाराज आडम्बर और दिखावा पसन्द नहीं करते थे। वहाँ पहुँचकर उन्होंने कहा, "मैं क्या कोई बारात लेकर आया हूँ?"

कोट्टायम से स्वामी दुर्गानन्द जी, भूमानन्द जी, यतीश्वरानन्द जी, ब्रह्मचारी गोपाल और दूसरे लोगों के साथ मैं भी स्टीमबोट से हरिपाड़ को चल पड़ा। हम बहुत रात बीते आश्रम पहुँचे। महाराज विश्राम कर रहे थे। मै गया और उनके सामने साष्टांग प्रणाम करके धीरे धीरे चला आया। मैनेजर सुब्बाराम अय्यर ने तुलसी महाराज के निर्देशानुसार सारा प्रबन्ध कर रखा था और आश्रम में महाराज का समय शान्तिपूर्ण ढंग से बीतता था। उन्हे यह स्थान बड़ा प्रिय लगा था।

दूसरे दिन जाने पर तुलसी महाराज ने मुझसे कहा, "भक्तन ! कल महाराज जी कृपापूर्वक तुम्हें दीक्षा देंगे, अत: तैयार हो जाओ। रात में और प्रात:काल भी दीक्षा के पहले कुछ मत खाना-पीना।" दूसरे दिन सुबह मैं तैयार हो गया। दीक्षा का कार्यक्रम मठ के भीतर रखा गया था। महाराज जी ने पहले ही आसन ग्रहण कर लिया था। शंकरानन्द जी द्वार पर विराजमान थे। वह दृश्य अब भी मेरे मन में अंकित है। तुलसी महाराज ने मेरे पास सूचना भेजी और शंकरानन्द जी मुझे भीतर ले गए। मै क्या देखता हूँ कि वहाँ मानो स्वयं श्री दक्षिणामूर्ति ही अपनी तेजपूर्ण महानता के साथ मौन-धारण किए हुए सबको आर्शीर्वाद देने के लिए विद्यमान हैं। मैं उनके चरणों पर गिर पड़ा। आचमन आदि प्रारम्भिक कृत्यों के पश्चात् उन्होंने मेरे हृदय में पवित्र मंत्र की स्थापना की। मैं अत्यधिक आनन्दित हो उठा और मैंने अनुभव किया कि मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ ! फिर मैंने अपनी तुच्छ भेंट उनके चरणों मे अर्पित की और चुपचाप बाहर आ गया। इसके बाद मैं स्वयं को भूलकर महाराज के कमरे मे घण्टों बैठा रहा। उसी दिन सुब्बाराम अय्यर आदि कई लोगों की दीक्षा दी गई।

महाराज आश्रम मे बड़े आनन्द से थे। ब्रह्मचारी चेलप्पा चाहते थे कि महाराज को आश्रम मे अधिक समय तक रोके, पर वे रोक नही सकते थे। तीन या चार दिनों के बाद ही डॉ. तम्पी की प्रार्थना पर महाराज तथा उनकी पार्टी को हरिपाड से कोल्लम के लिए प्रस्थान करना पड़ा। डॉ. तम्पी उन दिनों कोल्लम में चिकित्सक के रूप में प्रैक्टिस कर रहे थे और उन्होंने कई वर्ष पूर्व ही महाराज से दीक्षा ली थी।

हम पुन: स्टीमबोट मे रवाना हुए। महाराज की उपस्थिति से हम सभी बड़े आनन्दित थे। उन्हें एक विशाल भवन में ठहराया गया। वहाँ अनेक लोग एकत्र हो जाते, पर महाराज भीड़ से दूर रहना चाहते। डॉ. तम्पी की महाराज के प्रति बड़ी भक्ति थी। एक दिन सुबह महाराज बिना पूर्वसूचना दिए ही डॉक्टर के घर जा पहुँचे। डॉक्टर और उनके परिवार के लोग बड़े आश्चर्य मे पड़ गए और उन्हे सूझ नही रहा था कि उस समय वे क्या करें? परन्तु उनका भवन पवित्र हो गया।

कोल्लम से हम त्रिवेंद्रम के लिए रवाना हुए। वहाँ महाराज के ठहरने की व्यवस्था करने को कुछ भक्त पहले ही रवाना हो चुके थे। वहाँ एक वेदान्त समिति थी, जिसमें जर्मनी से लौटे हुए पद्मनाभन पिल्लै नामक एक सज्जन बड़ी रुचि लेते थे। पहले महाराज, उनके नीजी सचिव तथा तुलसी महाराज और बाद में हम लोग भी वहाँ से रवाना हुए। त्रिवेन्द्रम में महाराज का भव्य स्वागत हुआ था, पर मैं उस समय उपस्थित नहीं हो सका था। भवन दीपमालाओं से सुसज्जित किया गया था।

वहाँ की 'वेदान्त समिति' ने 'रामकृष्ण आश्रम' खोलने के लिए वटिट्यूर-काब मे ऊँचे स्थान पर एक भूखण्ड प्राप्त कर लिया था। किसी शुभ दिन महाराज उसका शिलान्यास करने वाले थे। वह स्थान नगर से चार-पाँच मील दूर था और बड़ा ही शान्त था। उन दिनों सड़कों पर मोटर तथा अन्य वाहन बहुत कम ही दीख पड़ते थे। उस शुभ कार्य में अनेकों लोग भाग लेना चाहते थे। तुलसी महाराज एक रात पहले ही उस स्थान पर पहुँच गए और उन्होने वहॉ पूजा तथा होम करवाया। महाराज बड़े तड़के ही मोटर से उस स्थान के लिए चल पड़े। हम लोगों ने भी उनका अनुसरण किया, कुछ लोग पैदल गए और कुछ तांगा आदि पर गए। वहाँ बड़ी भीड़ थी। जिस समय महाराज ने स्वयं अपने हाथो से शिलान्यास किया, उस समय वहॉ का दृश्य बड़ा ही मनोहर था। प्रसाद बॉटा गया। एक फोटोग्राफ लिया गया। अब भी कुछ आश्रमों में यह फोटोग्राफ देखा जा सकता है। महाराज बड़े प्रसन्न थे। यह स्थान साधन-भजन के लिए अत्यन्त उपयुक्त था।

सब लोग एक एक करके लौट रहे थे। मैं महाराज के निकट ही था। वे बड़े प्रसन्न होकर मुझसे कह रहे थे, "भक्त, तुम देख रहे हो न, यह कितना सुन्दर स्थान है ! तुमको कुछ ब्रह्मचारी बनाने होंगे। जब भवन-निर्माण का कार्य पूरा हो जाएगा, तब उन्हे यहाँ रहकर तपस्या करने दो। तपस्या के लिए यह बड़ा ही सुन्दर स्थान है। तुलसी महाराज ने बड़ा कठोर परिश्रम किया है, जिसके फलस्वरूप यहाँ इस सुन्दर आश्रम का जन्म हुआ है।"

महाराज के दक्षिण-भारत में आने का एक प्रमुख उद्देश्य था – कन्याकुमारी में देवी माता का दर्शन करना। अत: वे उस स्थान में जाने के लिए शीघ्रता कर रहे थे। उन्हे शीघ्र ही तिरुवल्ला से प्रस्थान करना था। वे कार से कन्याकुमारी पहुँचे। हम सबने उनका अनुसरण किया। महाराज तथा उनकी पार्टी के कुछ चुने हुए लोगों को एक दुमंजिले भवन मे ठहराया गया और बाकी हम सब सरकारी धर्मशाले मे ठहरे। जहाँ तक मुझे याद है, एक संध्या को वे सबसे पहले मन्दिर मे गए। वैसे प्राय: हम उनके साथ कीर्तन करते हुए जाया करते थे। उन्होंने शान्त तथा नीरव भाव से मन्दिर में प्रवेश किया और क्रमश: देवी की मूर्ति के अधिकाधिक निकट होते गए। सारा भीतरी भाग प्रकाशित किया गया था। संगीत और आरती का कार्यक्रम चल रहा था, हम लोग महाराज को हाथ जोड़कर

प्रणाम करते हुए देख रहे थे। वे पूर्णतया शान्त थे, उनका मुख-मण्डल प्रकाश व आनन्द से दमक रहा था। एक साधारण व्यक्ति भी देवी के सामने सुख और आनन्द का बोध करता है। उनका बड़ा ही मनोहर और अति सुन्दर रूप है। वे यहाँ बहुत समय तक रहना चाहते थे। परन्तु पूजा पद्धति ऐसी है कि किसी व्यक्ति को उस दिव्य वातावरण में अधिक समय तक रहने की अनुमति नहीं है।

महाराज अपने निवास-स्थान को जाने की तैयारी कर रहे थे। तभी कई कुमारी कन्याएँ उनके पास जाती हुई दिखाई दीं। बच्चियों के प्रति उनका बर्ताव अत्यन्त वात्सल्य तथा स्नेह से परिपूर्ण था। तुलसी महाराज रुपयों से भरी थैली लिए उनके पास ही स्थित थे। वे महाराज का स्वभाव जानते थे। वे महाराज के हाथों में रुपये देते जा रहे थे और महाराज उनको उन बच्चियों में बाँट रहे थे।

महाराज वहाँ अवश्य ही एक-दो हफ्ते ठहरे होंगे। वे जब भी मन्दिर जाते, तब तब सबको पैसे बाँटते। छोटी बच्चियों का संग उन्हें बड़ा रुचिकर लग रहा था। कभी कभी वे उन्हें भोजन भी कराते! उनकी कुमारी-पूजा समाप्त हो गयी थी। अब वे उनके खेल व नृत्य का आनन्द ले रहे थे। वे स्वयं भी बच्चों की भाँति आचरण करते थे। उनका स्वभाव बच्चों के समान था, तथापि सभी उनसे डरते थे। उनकी उपस्थिति में सभी कार्य स्वतः ही सुचारु रूप से होने लगते थे। वे किसी भी हालत में कन्याकुमारी नहीं छोड़ना चाहते थे। एक बार वे मुझसे कहने लगे, "भक्त! मैं कलकत्ते जाना ही नहीं चाहता। ओह! मेरी इच्छा है कि मुझे यहीं एक कुटीर मिल जाय और अपने जीवन का शेष भाग मैं यही बिताऊँ।" इस इच्छा में उनके त्याग की भावना निहित थी। सच्चे महात्माओं की यही पहचान है। यद्यपि वे राजा थे, तथापि अपनी चीजों का कोई मोह नहीं करते थे। वे जल में कमल-पत्र-वत् अनासक्त थे।

कन्याकुमारी में भी ऐसे अनेक लोग थे, जो महाराज से दीक्षा पाने के लिए उत्सुक थे। परन्तु महाराज से दीक्षा पाना आसान नहीं था। ऐसा प्रतीत होता था कि मानो वे इसे पसन्द नहीं करते थे। कुछ लोगों के लिए तुलसी महाराज और शंकर महाराज को पैरवी भी करनी पड़ी। दीक्षा पानेवाले उन कुछ भाग्यवान लोगों में श्री शेषाद्रि और श्री पद्मनाभन पिल्लै भी थे। शेषाद्री जी अब भी तिरुवल्ला में आनन्दपूर्ण जीवन बिता रहे हैं। पद्मनाभन पिल्ले भी महाराज के बड़े भक्त थे, परन्तु अब वे नहीं रहे।

कन्याकुमारी में, सब लोग और विशेषकर महाराज बड़े प्रसन्न थे। परन्तु कुछ लोग वहाँ के भोजन से सन्तुष्ट नही थे। उस समय वहाँ अच्छा भोजन प्राप्त करना बड़ा ही कठिन था और प्राप्त भोजन की कीमत भी बहुत ज्यादा थी।

महाराज और उनकी पार्टी कन्याकुमारी से विदा लेनेवाली थी। नागर-कोविल के इंजीनियर श्री थानू पिल्लै ने महाराज से प्रार्थना की कि वे नगर-कोविल में अपनी यात्रा को विराम देकर वहाँ भी कुछ दिन बिताएँ। अतः हम सब लोग वहीं रुक गए। उन्होंने शान्दार भोज दिया। श्री पिल्लै या अन्य लोगों के साथ कुछ बातचीत करने के बाद महाराज ने विश्राम किया। दूसरे दिन सुबह वे नागर-कोविल से विदा हुए और कोल्लम पहुँचे। वहाँ उनके ठहरने के लिए एक बँगला लिया गया था। वहाँ प्रतिदिन नियमित रूप से उत्सव हुआ करते थे। वहाँ डॉक्टर महाशय महाराज की हर प्रकार से सेवा करने के लिए बड़े उत्सुक थे। नियत समय पर जनसभा होती थी, जिसमे तुलसी महाराज लोगो से चर्चा करते थे। शंकर महाराज भी कुछ लोगो का स्वागत करते और उन्हें आदेश तथा उपदेश देते। महाराज को इन सबमें बड़ा आनन्द आ रहा था। यहाँ भी कुछ विशेष भाग्यशाली लोगों को महाराज से दीक्षा मिली, जिनमें से दो हैं स्वामी आगमानन्द जी और श्री चन्द्रशेखर पिल्लै।

महाराज को पुनः हरिपाड़ ले जाने के लिए वहाँ से श्री सुब्बाराम अय्यर और श्री चेलप्पा आये हुए थे। यद्यपि महाराज को वह आश्रम बड़ा प्रिय था, परन्तु उनके लिए यथाशीघ्र रामकृष्ण संघ के मुख्यालय पहुँचना आवश्यक था, अतः वे जल्दी करने लगे। मैं भी महाराज के साथ कलकत्ते जाना चाहता था। मैंने उनसे प्राथना की कि वे मुझे भी कलकत्ता ले चलें। उन्होंने मुझे अपने साथ चलने की अनुमति दे दी, परन्तु तुलसी महाराज बड़े कठोर थे। वे अपने स्वाभाविक ढंग से मुझे सुनाने लगे, "तुम दूर जाना चाहते हो। यहाँ इस आश्रम की देखरेख कौन करेगा?" इससे मेरी आँखों में आँसू आ गए। मुझे वही ठहर जाना पड़ा। महाराज और उनकी पार्टी ने एक स्पेशल स्टीमबोट में कोल्लम से प्रस्थान किया। हम में से कुछ लोग हरिपाड़ के निकट स्थित एक स्थान तक उनके साथ गए और वही पर मुझे रुक जाना पड़ा।

महाराज का व्यक्तित्व भव्य एवं आकर्षक था। उनके सभी कार्य आकर्षक एवं भव्यता से परिपूर्ण होते थे। मै उनकी सेवा करने को इच्छुक था, पर नहीं जानता था कि इसे कैसे किया जाय। एक बार स्वामी भूमानन्द जी उनके शरीर में तेल की मालिश कर रहे थे। मैं भी पास गया और वैसा ही करने लगा। इस पर महाराज बोले, "भक्त तो पेंटिंग कर रहा है। लगातार जोर लगाकर ही तेल लगाना चाहिए।"

और अधिक क्या कहा जाय? मै यही पर विराम करता हूँ। महाराज से बिछुड़ने के बाद मैं कई दिनों तक निरुत्साह रहा, परन्तु धीरे धीरे मैं अपनी पूर्व अवस्था में आ गया। अब महाराज अपने धाम में है। जय श्रीगुरु महाराज की।

❑❑❑

मन शान्त कैसे हो?

स्वामी ज्ञानेश्वरानन्द

एक बार मैं अमेरिका के नियाग्रा जलप्रपात के समीप खड़ा था। मै वहाँ उठनेवाली प्रचण्ड ध्वनि को सुनता हुआ विस्मित था कि आखिर उस भयंकर कोलाहल का कारण क्या है ! मैं सोचने लगा – यह कोलाहल कब से शुरू हुआ होगा, इसकी समाप्ति कब होगी और कब वह पूरी तौर से शान्त होगा? अन्ततः मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यह प्रचण्ड रव, यह भीषण कोलाहल, यह भयंकर प्रक्षुब्ध भाव तभी पूर्णतः शान्त, स्थिर और क्षोभरहित होगा, जब इस प्रपात के ऊपर और नीचे के दोनो भाग एक, और समतल हो जाएँगे। ऊपर का भाग अनवरत रूप से एक विशाल जलराशि को ग्रहण तो कर रहा है, पर वह उसे अपने पास नही रख पा रहा है: उसे सतत प्रवाह के रूप मे खर्च कर दे रहा है। तो भी ऊपर से जल की प्रचण्ड राशि अखण्ड रूप से नीचे की ओर दौड़ रही है। यदि किसी प्रकार नीचे का गर्त ऊपर से प्राप्त जलराशि को अपने पास रख सके और इस प्रकार अपनी सतह को ऊँचा उठाकर ऊपरी भाग की सतह के समकक्ष आ जाए, तो फिर किसी प्रकार रव, कोई कोलाहल या हलचल नहीं रह जाएगी।

मानव-जीवन में भी काफी कुछ इसी प्रकार 'ऊपर' से प्राप्त हो रहा है, पर हमारे पात्र उसका संरक्षण करके उच्च स्तर में उन्नीत हो जाने की कला नहीं जानते। यदि हम उस आपूर्ति को संरक्षित करके ऊपर के स्तर तक उठ पाते और आपूर्ति के उस स्रोत के साथ एकरूप हो पाते, तो हमारे अन्तराल की सारी हलचल, सारा क्षोभ और सारी अस्थिरता दूर हो जाती। यदि मनुष्य पूर्णतः शान्त होना चाहता है, तो उसे ईश्वर से ऐक्य प्राप्त करनी चाहिए। जब तक वह नीचे की सतह पर है, जब तक वह अपनी सारी शक्ति बाहर के संसार में खर्च कर रहा है। संक्षेप में, जब तक वह नहीं जानता कि जो आपूर्ति उसे सतत प्राप्त हो रही है, उसका उपयोग वह किस प्रकार करे, तब तक वह दुख पाएगा ही और तब तक शान्ति तथा स्थिरता का अभाव भी बना रहेगा।

अतः मित्रो, यदि आप 'मन शान्त कैसे हो?' – इस प्रश्न का उत्तर पाना चाहते है, तो मैं इसका केवल एक ही उपाय बताऊँगा – मनुष्य को ईश्वर के समकक्ष उठा लाना। हम ईश्वर की अनुभूति करे; हम यह जान लें कि हमारी सारी इन्द्रियाँ, मन की प्रवृत्तियाँ, और यही क्यों, हमारे जीवन का कण कण ईश्वर से पूरी तरह उद्दीप्त और संयुक्त है – हम ईश्वरस्वरूप है। पूर्णता का शाश्वत स्रोत वह प्रभु, अनन्त सत्, चित् तथा आनन्द का चिरन्तन आधार वह ईश्वर ही हमारी वास्तविक आत्मा है। हमारा लक्ष्य है – ईश्वर को प्राप्त करना। यदि हम उन्हें भूल जाते हैं और अपनी जीवन-योजना से ईश्वर को बहिष्कृत कर देते हैं, तो भले ही हम कभी-कभार अनजाने में उस दैवी स्रोत का स्पर्श पाकर जरा-सी शान्ति और स्थिरता पा लें, परन्तु जब तक हम ईश्वर से संयुक्त नही हो जाते, जब तक हम पूर्णतः भगवद्भाव से उद्भासित नहीं हो उठते, तब तक अखण्ड शान्ति और स्थिरता को नहीं प्राप्त कर सकते।

सामान्य व्यक्ति के लिए यह शान्ति विशेष महत्त्व नहीं रखती। वह इसे प्राप्त करने की इच्छा भी नहीं करता। इस बात में शायद आप मुझसे सहमत होंगे। अधिकांश लोग इन्द्रियों के विषय-भोगों की ओर दौड़े जा रहे हैं और इन्द्रियों को तृप्त करने की उत्कटता में, क्षणिक उत्तेजना की तन्मयता में उन्हे शान्ति का अभाव ही नहीं खलता। यह अभाव उन्हे तब खलता है, जब विषय-भोगो मे कुछ बाधा आती है। तब वे सोचते हैं कि यदि उनका मन कुछ अधिक स्थिर होता, तो उन्हें अभीष्ट विषयों की प्राप्ति में सहायता मिल जाती। आप लोगों ने अनुभव किया होगा कि जब हताशा, दुश्चिन्ताएँ, भय तथा विषाद हमें घेर लेते हैं, तब हम शान्ति एवं स्थिरता के सुखकर स्पर्श की जरूरत महसूस करते हैं। अतः हम देखते हैं कि ऐसी परिस्थिति में शान्ति और स्थिरता का मतलब हमारे लिए भौतिक विषयों की प्राप्ति का साधन मात्र होता है।

उपरोक्त अर्थ में यह सत्य है कि मनुष्य शान्ति और मन:स्थैर्य चाहता है, पर प्रश्न यह कि किसलिए चाहता है? क्या इसलिए कि वह शान्ति और स्थिरता की प्राप्ति को जीवन का ध्येय मानता है? नहीं। आम तौर पर लोग इन गुणो की इच्छा इसलिए करते हैं, ताकि उनकी बुद्धिवृत्ति तीक्ष्ण बने और वे अपना अभीष्ट प्राप्त कर सकें। इससे हमें कुछ शक्ति मिलती है, पर अर्थहीन बातों के पीछे दौड़कर हम उसे नष्ट कर देते हैं। परन्तु अन्ततोगत्वा एक समय आता है, जब हम अपना दृष्टिकोण बदल लेते हैं और तब हम शान्ति एवं स्थिरता को भौतिक विषयों की प्राप्ति का साधन नही मानते, बल्कि जीवन का लक्ष्य ही समझते हैं। जब मनुष्य शान्ति और मन:स्थैर्य की चरम अवस्था को पा लेता है, अर्थात् जब वह लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है, तो वह वज्रघोष के साथ कह सकता है, ''मैं लाभ या हानि की परवाह नहीं करता। मैं केवल पूर्ण शान्ति और स्थिरता की कामना करता हूँ।'' इस अवस्था में मनुष्य का बोध ईश्वरीय बोध के प्रायः समकक्ष आ जाता है। वह अनुभव करता है कि अन्य कुछ प्राप्त करने को बाकी नहीं रहा – **यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः**। (गीता, ६/२२)। उस चरम अवस्था का वर्णन पूर्ण

शान्ति और मन:प्रसाद के रूप में किया जा सकता है। तब मनुष्य की आत्मा स्वर्गिक आनन्द का अनुभव करती है। परन्तु कहना न होगा कि ऐसी अवस्था विरलों को ही मिल पाती है। शेष लोग शान्ति और स्थिरता पाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं और उनमें अधिकांश उसकी प्राप्ति इसलिए करना चाहते है, ताकि उन्हे अभीष्ट विषय-भोग मिल सकें।

अब मान लें कि आप इन गुणों का उपार्जन भौतिक विषयों की प्राप्ति के साधन के रूप में करना चाहते हैं, तो भी आपको विश्लेषण करके उन कारणों को खोज निकालना चाहिए, जो बाधा के रूप में सामने आते हैं। मान लीजिए, आप एक सफल व्यापारी होना चाहते हैं। आप अधिक कुशलता और सामर्थ्य प्राप्त करना चाहते हैं। इस समय यही आपका लक्ष्य है। यदि आप देखें कि व्यापारिक सम्बन्धों में थोड़ी-सी निराशा आपके मन को चंचल कर देती है या व्यापारिक लेन-देन में उत्पन्न कोई बाधा आपके मन को उत्तेजित कर देती है, तो आपको चाहिए कि आप इन प्रतिक्रियाओं का नियमन करें, अपने मन के इस क्षोभ को दूर करने का प्रयत्न करें और इस प्रकार अपनी दृष्टि को सन्तुलित करने का प्रयास करें। यह कर सकने के लिए आपको आत्म-विश्लेषण करना होगा। क्या कारण है कि तनिक-सी निराशा या बाधा आपके मन को विक्षुब्ध कर देती है? आपके इस विक्षोभ और क्रोध के पीछे कौन-सी बात है? मन के विक्षोभ का सबसे पहला और शायद सबसे महत्त्वपूर्ण कारण है भय। यह भयरूपी शत्रु हमारे मानस में जितनी उत्तेजना का निर्माण करता है, उतनी अन्य किसी कारण से नहीं उत्पन्न होती। सूक्ष्मता से आत्म-विश्लेषण कीजिए; उन परिस्थितियो का विचार कीजिए, जब आप क्षुब्ध हो गए थे, जब आपकी विचार-लहरी कुण्ठित हो गई थी, जब आप उत्तेजित और क्रोधित हो गए थे। कारण को खोजते हुए और अधिक गहरे डुबकी लगाइए। आप देखेंगे कि वह भय ही था, जो मन के किसी कोने में छिपा हुआ था – धन खोने का भय, मित्र या प्रतिष्ठा खोने का भय, नाम-यश खोने का भय आदि। भय ने आपको कमजोर बना दिया और आपके मन में एक भीषण आँधी बहा दी; उसने आपकी शक्ति को, आपकी शान्ति और सामर्थ्य को चूस लिया।

यदि हम यह विचार करें कि भय किससे पैदा होता है, तो पाएँगे कि सन्तुलन का अभाव ही भय का कारण है। एक ठोस उदाहरण लें। मान लो कि कही एक जलयान दुर्घटना-ग्रस्त हो गया है और यात्री बड़े उत्तेजित हैं। वस्तुत: वे भय से ही घबराए हुए हैं। वे सोच रहे हैं कि उनका जीवन कितना अमूल्य है और वे उन आसक्तियों के विषय में सोच रहे हैं, जिन्हें वे यहीं छोड़ जाएँगे। क्या आप सोचते है कि वे किसी प्रकार शान्ति और मानसिक स्थिरता धारण कर सकेंगे? भले ही ऊपर से वे वैसा करते दिखें, पर मैं कहूँगा कि उन्हें अपने जीवन से हाथ धोने का भय है और इसीलिए उनमें एक भीषण प्रलय मचा हुआ है। इस दल में एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना करें, जो ईश्वर के भाव में तन्मय है, जो सोचता है कि वह ईश्वर से एक है और ईश्वर की शक्ति ही उसके माध्यम से प्रकट हो रही है। वह जानता है कि मृत्यु का तात्पर्य रूप का नाश मात्र है और यह **मृत्यु भी ईश्वर का ही एक रूप है।** ऐसा व्यक्ति किसी भी परिस्थिति मे मन की स्थिरता एवं शान्ति को नहीं खोएगा, क्योंकि उसमें भय का नितान्त अभाव है। वह ईश्वर से संयुक्त है। वह जानता है कि कोई चीज उससे दूर नहीं हो सकती। परन्तु जब हम पदार्थ को अपना ईश्वर बना लेते हैं और इन्द्रियों की उत्तेजना मात्र के लिए जीवित रहते हैं, तो मृत्यु खूँखार भेड़िये के समान हमारा पीछा करती है।

वैसे मानसिक स्थिरता के भी विभिन्न स्तर हैं। एक व्य[illegible] ऐसा हो सकता है, जिसमें मानसिक स्थिरता जरा भी न हो, दूसरे में वह कुछ मात्रा में हो और तीसरे व्यक्ति को अनन्त शान्ति और स्थिरता प्राप्त हो चुकी हो अर्थात् वह ईश्वर भाव में प्रतिष्ठित हो चुका हो। इस भेद का क्या कारण है? ईश्वरानुभूति या पूर्णता की मात्रा ही इस भेद का कारण है। ऐसा व्यक्ति जिसने पूर्णता का अनुभव कभी नहीं किया, जब देखता है कि उसकी आसक्ति और सत्ता पर चोट पहुँच रही है, तो घबरा उठता है, क्योंकि वह सोचता है कि आसक्ति और सत्ता ही उसे सन्तोष और आनन्द प्रदान कर सकती है। वह भय और घबराहट से उत्तेजित हो जाता है तथा सम्भव है पूरी तौर से अपना सन्तुलन खो बैठे। मान लीजिए कि आप स्वयं को उस अवस्था में पाते हैं। मैं आपसे एक प्रश्न पूछना चाहूँगा [illegible] इन बातों पर इतने निर्भरशील क्यो हैं? बाहरी दुनिया मे अप[illegible] सम्पर्कों और अनुभवों से भले ही आप शान्ति और स्थिरता पाने की भरसक कोशिश करे पर ये सारे प्रयत्न अकारथ ही सिद्ध होंगे। क्या आप ऐसी कोई घटना बता सकते हैं, जब बाहरी दुनिया ने आपको सन्तोष और शान्ति दी हो? क्या आप सोचते हैं कि आपका वैभव कभी आपको शाश्वत सन्तोष दे सकता है? मुझे तो बड़ा सन्देह है। तथापि आपके ही भीतर ऐसा कुछ है, जो आपको वास्तविक अर्थ में सन्तुष्ट कर सकता है और आपकी समस्त कामनाओ की पूर्ति कर सकता है। इसमे मुझे तनिक भी सन्देह नही। मेरी इन बातो को सुनकर हो सकता है कि आप रुके और इन पर थोड़ा विचार करे, परन्तु संसार के सम्बन्धो मे जब आप बारम्बार हताश होते हैं, जब दुख और विषाद, अश्रु और रुदन के काले बादल आपके जीवन-सूर्य को ढँक लेते हैं, तभी आप भीतर की ओर, शान्ति के उस शाश्वत धाम की ओर मुड़ने का सबक सीखते हैं।

जो मध्यम कोटि के व्यक्ति हैं, जो थोड़ा थोड़ा शान्ति का अनुभव करते हैं, उन्हें इस बात का कुछ निश्चय अवश्य है कि भीतर वह शान्ति का स्रोत – आनन्दमय आत्मा है; पर वे पूरी

तौर से उसकी शरण में जाने में समर्थ नहीं हुए हैं। यदि ऐसा व्यक्ति उस कार्य में सफल नहीं होता, जिसमें सफलता से उसे आनन्द मिलने की आशा थी, यदि वह बाधाओं से घिर जाता है, तो भी वह जानता है कि उसके लिए आश्रय की एक जगह है, भीतर वह तत्त्व है जिसकी शरण वह ले सकता है और इसलिए वह पहले व्यक्ति के समान विक्षुब्ध नहीं होता। जो लोग इस मध्यम अवस्था को प्राप्त कर चुके हैं, उनके लिए यह एक महान् लाभ की बात है। यह ठीक है कि उन्होंने लक्ष्य को अभी प्राप्त नहीं किया है, तो भी कम-से-कम उन्हें अपने भीतर के उस अनन्त शक्ति-स्रोत पर भरोसा तो है और यह अपने आपमें एक बड़ी उपलब्धि है। यदि आप अपने को इस श्रेणी के अन्तर्गत पाते हैं, यदि आप अनुभव करते हैं कि बाधक परिस्थितियों में भी आप स्थिर-शान्त रह सकते हैं या यदि भाग्य से इस संसार के आपके सारे सम्बन्ध शान्ति और आनन्द से भरे हैं, तो भी आपको सावधानी से परिस्थिति का विश्लेषण करना चाहिए। आपको स्मरण रखना चाहिए कि जिस आनन्द का आप अनुभव कर रहे हैं, वह आपके वैभव और सम्बन्धों से उत्पन्न नहीं हुआ है, न ही आपकी सम्पदा, आपके आत्मीय-स्वजन या आपके सुन्दर बच्चों ने उस आनन्द को जन्म दिया है। आपका आनन्द सदैव आपके भीतर से आया है। वह तो आपके भीतर का दैवी भाव ही था, जो बाहर विषयों में प्रतिबिम्बित हो रहा था, जिसने आपको सन्तोष और आनन्द का अनुभव प्रदान किया। भले ही आप यह अनुभव करें कि आपके भीतर ऐसा कुछ है जो आनन्द की समस्त घटनाओ में प्रकट हो रहा है, भले ही आप सोचें कि आपने कुछ सीमा तक भय को जीत लिया है और भले ही आप विश्वास करें कि आपकी चेतना कुछ ऊर्ध्वमुखी हो गई है, तथापि यदि कोई घटना आपके प्रिय विषयों को आपसे छीन ले जाना चाहे, तो आप घबरा जाएँगे और प्रतिवाद करेंगे। इसका अर्थ यह है कि आपने अभी पूर्ण शरणागति की अवस्था प्राप्त नहीं की है, आपको ईश्वर का सच्चा स्पर्श नहीं मिला है और उनके साथ आपका अटूट सम्बन्ध नही जुड़ा है।

मध्यम कोटि के व्यक्तियों की यही दशा होती है। उन्हें भी भय को जीतने के लिए विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। अपने भय का विश्लेषण करो और उस परमात्मा का सान्निध्य-बोध करते हुए उसे दूर करने का प्रयास करो। केवल यही एकमात्र दवा है। यदि तुम मृत्यु से डरते हो, तो अपनी आत्मा को ईश्वर के निकट ले जाओ। जान लो कि तुम्हारी आत्मा ईश्वर का ही एक स्फुलिंग है, जो मृत्यु की ठण्डी हवा से भी बुझ नही सकती। यदि तुम इस प्रकार विचार करो, तो फिर मृत्यु या किसी अन्य से डरने का कोई कारण नही रहेगा। मैंने ऐसे लोगों को देखा है, जो परमात्मा का संस्पर्श पाकर यम को भी धमकाने में समर्थ थे। मैंने अपनी आँखों से देखा है। श्रीरामकृष्ण के एक प्रमुख शिष्य थे स्वामी तुरीयानन्द। वे पूर्णत: निर्भय थे। मृत्यु उनके लिए मृत्यु नहीं रह गई थी। उन्होंने तथा श्रीरामकृष्ण के अन्य शिष्यों ने मृत्यु के सन्दर्भ में भय को कैसे जीता था? इसका रहस्य यह है कि उन्होंने अपनी चेतना के स्तर को ईश्वर के समकक्ष उठा लिया था।

स्वयं को तुम जितना ही इस दैवी स्रोत परमात्मा के निकट ले जाओगे, अपने सम्बन्धियों, धन-सम्पत्ति, तारुण्य, यहाँ तक कि जीवन को भी खोने का तुम्हारा भय उतना ही कम होता जाएगा। तब तुम शान्ति और मन की स्थिरता प्राप्त कर सकोगे और जीवन का उपभोग करने में समर्थ हो सकोगे। दूसरी ओर यदि तुम भय से आक्रान्त हो और सोचते हो कि तुम अपनी तरुणाई, अपने परिवार और अपनी समृद्धि का आनन्द पा सकते हो, तो मैं कहूँगा कि तुम्हारा यह आनन्द बड़ा कच्चा है, अनित्य है; यह किसी भी क्षण उड़ सकता है।

अत: संसार के विभिन्न सम्बन्धों के माध्यम से हमें स्वयं को सदा-सर्वदा उन परमात्मा के निकट बनाए रखने का प्रयत्न करना चाहिए और तभी हम भय को जीत सकते हैं। जब तक तुम अपने सम्बन्धियों में ईश्वर को नहीं देखते, तब तक वे भय के कारण ही हैं। पर अस्पष्ट रूप से भी जब तुम उनमें परमात्मा का प्रतिबिम्ब देखते हो, तो तुम अधिक शान्ति, समता और स्थिरता के अधिकारी हो जाते हो। मनुष्य धन से समृद्धि तथा आराम पाता है और अपनी इच्छाओ की पूर्ति करता है। यदि तुम अपने धन को ईश्वर से पृथक् मानते हो, तो तुम्हें भय होगा। तुम्हारे मन के किसी अज्ञात कोने में भय का भाव भरा रहेगा। परन्तु यदि तुम उसे ईश्वर का मानते हो और यह समझते हो कि तुम ईश्वर के मुनीम हो, तब तुम उसके खो जाने के भय से पीड़ित नहीं होगे। तब ईश्वर तुम्हारे लिए धन की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाएँगे। इस भौतिक संसार में अपने अनुभव में आनेवाली प्रत्येक घटना के सम्बन्ध में उपर्युक्त विवेचन लागू हो सकता है। हमें ईश्वर के साथ घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करना चाहिए।

उपनिषदों में बताया गया है कि दुख का एकमात्र कारण अज्ञान है। अज्ञान तुम्हें अपने देवत्व या ईश्वरत्व का विस्मरण करा देता है और वह अनेकों विघ्न-बाधाओं के रूप में अपना विस्तार कर लेता है। भय अज्ञान की प्रथम सन्तान है। जब तुम सत्य को नहीं जानते हो, तो भय आकर तुम्हारा गला दबोच लेता है और जीवन को विषमय बना देता है। हमें नहीं भूलना चाहिए कि **भगवान के विस्मरण से ही भय उपजता है।** भय से कई मायावी रूप खड़े होते हैं। मूलत: वह एक ऐसा मायावी रूप उत्पन्न करता है, जिसे हम अहं-भाव कहते हैं। यह अहं-भाव मायावी रूप ही है। जिसे हम अपना 'आपा' कहते हैं, उसमें सत्यता नहीं है; सत्यता तो ईश्वर में है। अज्ञान भय को जन्म देता है और भय से इस मिथ्या

'अहं-भाव' की उत्पत्ति होती है। इस 'अहं-भाव' में भय की अनेक वृत्तियाँ हैं और उनमें सबसे सूक्ष्म वृत्ति है यह विचार करना कि 'मैं मरणशील हूँ, मुझे मरना होगा'। यदि तुम स्वयं को अकेला महसूस करते हुए कहो कि 'मैं पुरुष या स्त्री हूँ, मैं धनवान हूँ, मैं निर्धन हूँ, मैं सुन्दर हूँ, या कुरूप हूँ' – तो तुम भय से आक्रान्त हो सकते हो। यदि तुम इस 'अहं-भाव' में एकाकी रहो, तो तुम सर्वदा भय से घिरे रहोगे।

यदि तुम इस भय को दूर करना चाहते हो तो तुम्हें अपने इस 'अहं-भाव' को ईश्वर के साथ आत्मीयता के किसी निश्चित सूत्र में बाँध लेना चाहिए। जब तुम 'मैं' कहते हो, तो इसके साथ ऐसे भी शब्द कहो, जो तुम्हें ईश्वर से जोड़ दें। यथा – "मैं ईश्वर की सन्तान हूँ, उनका सेवक हूँ, सखा हूँ या भक्त हूँ।" अपने अहं भाव के पीछे इस प्रकार का कुछ सम्बल अवश्य रखो। इससे तुम सुरक्षित रहोगे। याद रखो, **यदि तुम एकाकी रहोगे तो सर्वदा भय बना रहेगा। आज हो या कल, इस संसार की प्रत्येक वस्तु तुम्हें धोखा दे जाएगी, पर केवल ईश्वर ही ऐसे हैं, जो कभी तुम्हारा साथ न छोड़ेंगे**। चाहे जो भी हो जाय, पर ईश्वर के साथ तुम्हारा यह सम्बन्ध टूटने का नहीं है। ऐसा न सोचो कि तुम्हारे सगे-सम्बन्धी, तुम्हारी सम्पत्ति और तुम्हारा धन-वैभव तुम्हें शाश्वत आनन्द दे सकेंगे। ईश्वर पर निर्भर रहो।

ईश्वर पर निर्भर रहने का अर्थ यह नहीं कि हम अन्य सबको घृणा की दृष्टि से देखें। घृणा आसक्ति से भी भयंकर है। घृणा से मन में आसक्ति की अपेक्षा अधिक विक्षेप उत्पन्न होता है। सब प्रकार से ईश्वर पर निर्भर रहो। उन्हें हर वस्तु में विद्यमान देखो। विचार करो कि तुम्हारे सारे सम्बन्ध ईश्वर की देन है, तुम्हारी सम्पत्ति ईश्वर-प्रदत्त है। एक मित्र तुम्हे सुन्दर-सा फूल देता है। फूल का देना महत्त्वपूर्ण नहीं, उस प्रदान के पीछे निहित उसका प्रेम ही महत्त्व का है। फूल तो दो दिन में सूख जाता है, पर प्रेम बना रहता है। **हम अपने सम्बन्धों और धन-वैभव को अपने प्रति ईश्वर के प्रेम का प्रतीक मानें**। ऐसा विचार करने से जीवन आसक्ति, घृणा और भय से मुक्त होता है और दोषों के पूरी तौर से नष्ट हो जाने पर हमारा मन समता और स्थिरता की अवस्था प्राप्त करता है। तभी मनुष्य के बोध में ईश्वर स्वयं को प्रकट करते हैं।

मैं कई बार एक शान्त, स्थिर सरोवर का दृष्टान्त देता हूँ, जिसके जल में पूर्ण चन्द्र प्रतिबिम्बित होता है। यदि सरोवर का जल सतत हिल-डुल रहा है, यदि उसकी सतह पर लहरें लगातार उठ रही हैं, यदि जल फेनिल है, तो तुम चन्द्रमा की परछाई स्पष्ट रूप से न देख सकोगे। ऐसी दशा में तुम क्या करोगे? क्या चन्द्रमा से प्रार्थना करोगे कि मुझे अपना स्पष्ट प्रतिबिम्ब दिखला दो? तुम्हारी प्रार्थना अनसुनी रह जाएगी। चाँद तुमसे कहेगा, "मैं तो सर्वदा यहाँ हूँ। तुम सरोवर के जल को स्थिर और निस्तरंग क्यों नहीं बनाते?" यह सरोवर मानो तुम्हारा मन है। यदि तुम मन को सर्वदा विचलित तथा चंचल बनाए रखो और ईश्वर से उनके दर्शन के लिए प्रार्थना करो, तो ईश्वर कहेंगे, "मैं तो सदा-सर्वदा ही तुम्हारे मन में स्वयं को प्रतिबिम्बित कर रहा हूँ, परन्तु तुमने अपने मन को शान्त और स्थिर बनाए रखने के लिए कुछ भी नहीं किया है। अतः तुम वहाँ मुझे देखने की आशा कैसे कर सकते हो?" ईश्वर तो हमारे भीतर है ही। हमे उनका दर्शन पाने के लिए प्रार्थना नहीं करनी होगी। मेरे कहने का अर्थ यह नहो है कि प्रार्थना से कोई लाभ नहीं। वह एक दूसरी बात है। यहाँ मैं एक अत्यन्त महत्त्व की बात पर जोर दे रहा हूँ, जिसे हम सामान्यतया उपेक्षित कर देते हैं; और वह है – मन में शान्ति और स्थिरता की प्रतिष्ठा करने की आवश्यकता। यदि आप इसी को अपने सारे प्रयत्नों का लक्ष्य बनाएँ और यदि जीवन की सफलता इसी से मापे कि आप कितनी मात्रा मे मनःस्थैर्य प्राप्त करने मे सफल हुए है, तो अपने जीवन में उस देवत्व के प्रतिबिम्ब की अनुभूति करना अधिक कठिन नही होगा।

इस प्रकार जो व्यक्ति ईश्वर-प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य मानकर चलता है, उसे शान्ति और आनन्द की अवस्था प्राप्त होती है। यदि हम उस लक्ष्य की उपेक्षा कर दें और प्रकृति को ही ईश्वर तथा अपनी इन्द्रियों को उनका पुजारी मान ले, तो जीवन मे स्थाई शान्ति, यथार्थ समता या पूर्ण स्थिरता प्राप्त करना सम्भव न होगा। यदि हमे इस तथ्य की धारणा हो गई है, तो हम भाग्यवान हैं, क्योंकि इसकी धारणा भी कठिनाई से हो पाती है। पर हमें एक बात का ध्यान रखना चाहिए – हम उन लोगों के प्रति उपेक्षा या आलोचना का भाव मन मे न सँजोएँ, जिन्हें हमारी जैसी धारणा नही हुई है। **हर व्यक्ति को अपने कर्मों का फल भोगना ही होगा**। यह सिद्धान्त यदि तुम सबके सामने उद्घोषित करो, तो वे तुम पर हँसेगे। जीवन के अनुभव ही मनुष्य में इस धारणा को दृढ़ करता है। तुम्हे ऐसे लाखों मिलेंगे, जो 'शान्ति' और 'स्थिरता' का अर्थ नही समझते। 'सन्तोष' शब्द उनके ज्ञान की परिधि मे नहो आता। पर इसका यह अर्थ नहीं कि हम उनकी आलोचना करे। ऐसे व्यक्ति से मै कहूँगा, "मित्र! यदि तुम सोचते हो कि तुम्हारे स्वजन, तुम्हारा धन और तुम्हारा वैभव तुम्हे आनन्द प्रदान कर सकता है, तो बढ़े चलो, उनका अनुभव लो, उनका उपभोग करो और देखो कि वे यथार्थतः तुम्हे क्या देते है। अन्त में तुम अनुभव करोगे कि वे तुम्हे तुम्हारी चाहित वस्तु नहीं दे सकते। तब तुम अन्दर की ओर मुड़ोगे।"

जिस व्यक्ति ने जीवन के इस लक्ष्य की धारणा कुछ अंश तक कर ली है, उससे मैं कहूँगा, "भाई, यदि तुम सचमुच जीवन में स्थाई शान्ति पाना चाहते हो, तो ईश्वर के साथ स्वयं को जोड़ लो। अनुभव करो कि ईश्वर ही तुम्हारे विचारो के

प्रेरक हैं और भौतिक संसार के माध्यम से तुम्हें ईश्वर का ही संस्पर्श हो रहा है। अपने को ईश्वर के विचार से पूरी तरह भर लो। यदि तुम अभी उस उद्गम के स्तर तक नहीं पहुँचना चाहते, यदि तुम अभी थोड़ा-सा चांचल्य का उपभोग करना चाहते हो, तो अवश्य कर लो, **पर यह जान लो कि वह** तुम्हारे प्रभु का ही एक आभास है। **हर वस्तु को अपने ईश्वर के साथ जोड़ लो।** तब तो जीवन के उपभोगों के बीच से भी तुम ईश्वर के घनिष्ठ सम्पर्क में बने रहोगे।"

तथापि एक दिन ऐसा आएगा जब तुम रुककर कहोगे, "अब तो मैं केवल ईश्वर को ही चाहता हूँ – वह ईश्वर जो सभी उपाधियों से परे है, जो किसी प्रकार सीमाबद्ध नहीं है। मै ईश्वर में ही डूबे रहना चाहता हूँ; मैं अपने ईश्वर से अलग अहंभाव नही रखना चाहता। मैं तो अनन्त शान्ति, अनन्त आनन्द और अनन्त पूर्णता की अवस्था चाहता हूँ।" भले ही आज तुम उनके लिए स्वयं को तैयार न पाओ, पर वह अवस्था आने ही वाली है। आज भी तुम इस भौतिक संसार के माध्यम से जिस आनन्द का उपभोग कर रहे हो, यदि तुममें यह धारणा दृढ़ हो जाए कि उस आनन्द का भोक्ता – तुम्हारी आत्मा – ईश्वर ही है, तो जीवन का भोग स्वस्थ उपभोग बन जाता है और आसक्ति से मुक्त हो जाता है। तब भोग्य विषयों से कोई डर नहीं रह जाता, उनके प्रति कोई आसक्ति नहीं रह जाती और इसलिए आनन्द की मात्रा भी स्वाभाविक ही बढ़ जाती है। तब मन में अधिक शान्ति और स्थिरता विराजने लगती है। हम अपने मानसिक स्तर को ईश्वर की ओर जितना उठाते हैं, हम उतना ही अधिक मन:स्थैर्य का बोध करते हैं।

मनुष्य और ईश्वर की चेतना को आपस में मिलना चाहिए। इसके सिवा अन्य कोई रास्ता नहीं। जब चेतना के दोनों स्तर एक हो जाते हैं, जब मनुष्य का 'मैं' ईश्वर मे पूर्णतः डूब जाता है और जब केवल एक निरुपाधि, निराकार, नि:सीम ईश्वर ही विराजमान रहते हैं, तब जीवन की पूर्णता सम्पन्न होती है। वह अनन्त आनन्द की अवस्था है; शान्ति और स्थिरता की अन्तिम सीमा है और यही चरम पूर्णता है। ❑❑❑

जीवन शर्त

पुरुषोत्तम नेमा

है जीवन की शर्त भलाई,
अमृतमय हो जन्म-मरण।

जो उपयोगी नहीं कहीं भी,
क्या मतलब उसके होने में,
पूरा जग हो जाए चिन्तित,
जिसके जगने औ सोने में,
हो जो भार धरा का साथी,
उसको मानो कुंभकरण।।

जितना जागे उतना अच्छा,
नहीं सन्त को सोने दें,
क्षेत्र क्षेत्र में प्रतिपल उनको
बीज खुशी के बोने दें,
अक्षर अक्षर महामन्त्र है,
गतिमय जिसके सदा चरण।।

अन्धभक्ति की माया भूलें,
ढोंग व्यर्थ के पीछे छोड़ें,
मनुज मात्र हो बन्धु हमारा
विश्व रूप से नाता जोड़ें,
ऊँच नीच का भाव त्यागकर
भव्य भाव का करें वरण।।

सूक्तियाँ

पुरुषोत्तम नेमा

ज्ञान आचरण कर्म तेज से
जगत् कुहासा छाँट रहे जो।
वे सब श्रद्धा के अधिकारी
जीवन का रस बाँट रहे जो।।

यद्यपि रहता दूर चन्द्रमा,
देता जग को शीतलता।
संन्यासी त्यों भरता जग में,
प्रियता, शिवता, कोमलता।।

सड़ा-गला निद्रा का कचरा
कोई इनमें फेंक न जाए।
साथी अपने कान सँभालो,
शुभ सुनने की आदत डालो।।

हम तो राही जनम जनम से
नहीं कहीं भी ठौर-ठिकाना।
मिला विरासत में चलना ही
आज यहाँ कल आगे जाना।।

छोटा बड़ा नहीं है कोई
श्रेष्ठ सिर्फ कर्तव्य कर्म है।
धर्म तुम्हारा उतना सच्चा
जितना कोई अन्य धर्म है।।
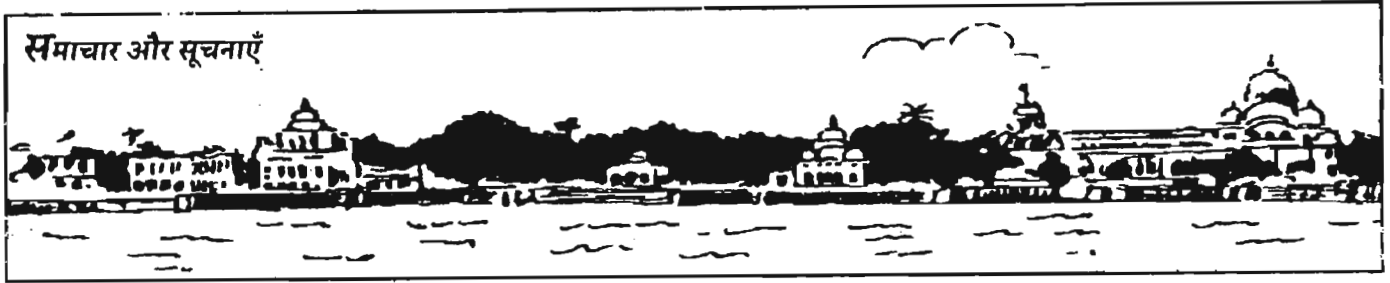
मुजफ्फरपुर (बिहार) में रामकृष्ण मिशन

रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ द्वारा रामकृष्ण विवेकानन्द सेवाश्रम, मुजफ्फपुर का अधिग्रहण –

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित होकर सन् १९२६ में श्रीरामकृष्णदेव के मानसपुत्र स्वामी ब्रह्मानन्द जी के शिष्य स्वामी ऋतानन्द जी ने इस आश्रम की स्थापना की। विशेषकर चिकित्सा के क्षेत्र में जन-सेवा को पूर्णतः समर्पित यह आश्रम अपना आध्यात्मिक जीवन अक्षुण्ण रखते हुए विगत ७७ वर्षों से निरन्तर दीन-दुखियों की बहुआयामी सेवा प्रदान करते हुए उत्तरी बिहार के एक अग्रणी स्वयंसेवी-संस्था के रूप में अपनी पहचान बनाए रहा।

२७ जुलाई, २००३ ई. को, श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख शिष्य स्वामी रामकृष्णानन्द जी के पावन जन्म-दिवस पर इसका रामकृष्ण मिशन में विलय-समारोह सोल्लास सम्पन्न हुआ।

इस अवसर पर आयोजित समारोह में भाग लेने हेतु रामकृष्ण मठ व मिशन के महासचिव श्रीमत् स्वामी स्मरणानन्द जी, सह-सचिव स्वामी शिवमयानन्द जी तथा संघ के अन्य केन्द्रों से अनेक संन्यासी पधारे थे। बिहार सरकार के मुख्य सचिव, माननीय श्रीयुत् एस.एन. विश्वास इस समारोह के मुख्य अतिथि थे और डिविजनल कमिश्नर, डी.आई.जी., जिलाधीश, एस.पी. आदि पदाधिकारियों ने भी समारोह की शोभा बढ़ायी।

समारोह एक भव्य अनुष्ठान के साथ शुरू हुआ। महासचिव महाराज ने घण्टा-घड़ियालों की ध्वनि के बीच सेवाश्रम की नाम-पट्टिका के साथ ७७ गुब्बारों की एक लड़ी को आसमान में उड़ाकर उसे भावभीनी विदाई दी और तदुपरान्त मिशन का ध्वजारोहण कर नए शाखा-केन्द्र के रूप में 'रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम' की नई नाम-पट्टिका का अनावरण किया। यह बड़ा ही मनोहारी तथा मार्मिक दृश्य था। जहाँ एक ओर आकाश में लहराते हुए गुब्बारों के साथ लहराती सेवाश्रम की पट्टिका को दूर क्षितिज में अदृश्य होते देख असंख्य लोगों के हृदय कृतज्ञता तथा पावन स्मृतियों के उदय से अभिभूत हो रहे थे, वहीं दूसरी ओर नई सत्ता के अवतरण से सभी के मन में हर्षोल्लास तथा नव नव आशाओं का संचार हो रहा था।

समारोह वेदमंत्रों की आवृत्ति तथा स्वामी दिव्यव्रतानन्द जी के हृदयग्राही भजनों के साथ प्रारम्भ हुआ। सेवाश्रम के निवर्तमान सचिव स्वामी प्रबुद्धानन्द जी ने समारोह में समवेत सभी विशिष्ट एवं आम जनों का हार्दिक अभिनन्दन करते हुए अपने स्वागत भाषण में संस्था का संक्षिप्त इतिहास बताते हुए अति भाव-विह्वल स्वरों में विनम्रता एवं कृतज्ञतापूर्वक कहा कि सेवाश्रम का रामकृष्ण मिशन में यह विलय श्री ठाकुर, माँ तथा स्वामीजी की असीम कृपा एवं बेलूड़ मठ के वरिष्ठ संन्यासियों के आशीर्वाद से सम्भव हो सका है।

तदनन्तर महासचिव स्वामी स्मरणानन्द जी महाराज ने मिशन की ओर से स्वामी प्रबुद्धानन्द से कुल चल-अचल सम्पत्तियों से सम्बद्ध कागजात के साथ सेवाश्रम का अधिग्रहण कर, मिशन के इस नए शाखा-केन्द्र के नव-नियुक्त सचिव स्वामी रघुनाथानन्द जी का परिचय कराते हुए, इसका उत्तरदायित्व उन्हें सौंप दिया।

मुख्य अतिथि के रूप में अपने सारगर्भित सम्बोधन में श्रीयुत विश्वास ने कहा कि वर्षों की त्याग-तपस्या तथा यथार्थ जनसेवा से देश-विदेश में एक प्रमुख स्वयंसेवी संस्था के रूप में रामकृष्ण मिशन की अपनी एक विशिष्ट पहचान बनी है, इसलिए हम सभी को सदैव मिशन के सम्बन्ध में अपने विचार तथा व्यवहार में इस बात का ध्यान रखना होगा। रामकृष्ण मिशन द्वारा अपने शाखा-केन्द्र के रूप में सेवाश्रम के अधिग्रहण से पूरे बिहार और खासकर मुजफ्फरपुर के लोगों को बड़ा लाभ होगा। जरूरत केवल इस बात की है कि सभी लोग मिशन को इसमें अपना सक्रिय सहयोग दें।

स्वामी शिवमयानन्द जी ने रामकृष्ण संघ की संक्षिप्त रूपरेखा का निरूपण करते हुए कहा कि अनिकेत संन्यासी-ब्रह्मचारीगण, गृही-भक्तगण तथा सभी अनुरागी इस रामकृष्ण मठ तथा मिशन के अंग हैं। संघ के जन-सेवामूलक क्रिया-कलाप सभी के आपसी सहयोग से ही सुचारु रूप से होता रहा है और आगे भी होता रहेगा।

स्वामी ब्रह्मेशानन्द महाराज ने संघ-गुरु के रूप में श्रीरामकृष्ण देव के अवदान का उल्लेख करते हुए कहा कि अपने दक्षिणेश्वर निवास के दौरान ही उन्होंने अपने अन्तरंग गृहत्यागी भक्तों को पहचान लिया था और उनके जीवन का आदर्श तथा दिशा से परिचय करा दिया था। काशीपुर उद्यान में अपने जीवन के अन्तिम काल में उन्होंने इनको संगठित कर गैरिक वस्त्र प्रदान कर संन्यास-जीवन के लिए प्रेरित किया था। इस संघ के संचालन का भार उन्होंने नरेन्द्रनाथ (बाद में स्वामी विवेकानन्द) को सौंपा था।

स्वामी निखिलात्मानन्द महाराज ने संघजननी के रूप में माँ सारदा के अवदान का उल्लेख करते हुए कहा कि बेलूड़ मठ की स्थापना के पूर्व माँ ने ठाकुर से हार्दिक प्रार्थना की थी कि उनके गृहत्यागी संन्यासी भक्त संगठित होकर एक जगह रहें और स्वयं आदर्श जीवन यापन करते हुए उनकी शिक्षाओं का प्रचार-प्रसार

करें। स्वामीजी समेत श्रीरामकृष्ण केसभी शिष्य माँ सारदा से अपने जीवन में मार्गदर्शन तथा मठ-सचालन सम्बन्धी कार्यों के विषय में बीच बीच में उनकी सलाह लिया करते थे और उनके आदेशों को बड़ी श्रद्धा तथा विनम्रता के साथ शिरोधार्य करते थे।

स्वामी शशाकानन्द जी ने संक्षेप में अपने देशवासियों और विशेषकर युवकों के लिए स्वामीजी के जीवन तथा सन्देश की उपयोगिता एवं प्रासंगिकता बताते हुए कहा कि स्वामीजी के अनेक आदर्श-वाक्यों में से अपनी रुचि के अनुसार यत्किंचित् आत्मसात् करके हम अपना जीवन धन्य बना सकते हैं और साथ ही समाज एव राष्ट्र के उत्थान में भी समुचित सहयोग प्रदान कर सकते हैं।

स्वामी रघुनाथानन्द जी ने कहा कि मुजफ्फरपुर में आकर और यह जानकर उन्हें सुखद आश्चर्य हुआ है कि यहाँ लोगों में मिशन के आदर्श, भावधारा व जनसेवा-मूलक कार्यों के प्रति सकारात्मक रुख है। उन्होंने आशा जताई कि कालक्रम में यहाँ और लोगों से भी उनका घनिष्ठ सम्पर्क होगा और इस शाखा-केन्द्र की विभिन्न गतिविधियों के सचालन में सबका सक्रिय सहयोग मिलेगा।

अपने अध्यक्षीय सम्बोधन में श्रीमत् स्वामी स्मरणानन्द जी ने स्वामी प्रबुद्धानन्द जी के लगभग एक युग के अथक प्रयास और धैर्य की भूरि-भूरि प्रशसा की। वे बोले — आज उनके भगीरथ प्रयास की सफलता पर हम सभी को बड़ा आनन्द हो रहा है। इस शाखा-केन्द्र के क्रिया-कलापों में अपना सक्रिय सहयोग देने का उन्होंने लोगों से विशेष रूप से अनुरोध किया।

अन्त में, सेवाश्रम के निवर्तमान सहाध्यक्ष डॉ. ए.वी. मजूमदार द्वारा धन्यवाद-ज्ञापन तथा श्री पशुपति बनर्जी एव पार्टी द्वारा भजन-गायन के साथ समारोह सम्पन्न हो गया।

रामकृष्ण-विवेकानन्द सेवाश्रम, मुजफ्फरपुर का इतिहास

भगवान श्रीरामकृष्ण के अन्तरग शिष्य स्वामी ब्रह्मानन्द जी के शिष्य स्वामी ऋतानन्द जी ने १९२६ ई. में इस आश्रम की स्थापना की। स्वामी ऋतानन्द जी रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, हरिद्वार में ब्रह्मचारी थे और स्वामी अभेदानन्द जी से उन्हें संन्यास-दीक्षा प्राप्त हुई। युवा संन्यासी ने दार्जिलिंग जाकर उन्हीं के सान्निध्य में कुछ काल तक साधना की थी। तदुपरान्त सम्भवतः दैवी प्रेरणा से १९२६ ई. में वे मुजफ्फरपुर आ गए। नगर में अपने पूर्वपरिचित बाबू बामाचरण तथा बाबू श्यामाचरण — इन दो भाइयों के सहयोग से उनके मिठनपुरा स्थित निर्जन उद्यान में एकाकी रहकर उन्होंने 'रामकृष्ण-विवेकानन्द सेवाश्रम' के नाम से 'शिवज्ञान से जीवसेवा' के महायज्ञ का अनुष्ठान प्रारम्भ किया। सेवा-कार्य में उनकी निष्ठा, तथा सबके प्रति हृदय में उमड़ते प्रेम ने उन्हें शीघ्र ही नगर के गणमान्य लोगों के बीच प्रशंसापूर्ण चर्चा का विषय बना दिया।

वहाँ के जमींदार, वेलाग्राम निवासी बाबू लक्ष्मीनारायण तिवारी के विशेष आग्रह तथा सर्वसम्मति से उसी वर्ष, १९२६ ई. में सेवाश्रम स्थानान्तरित होकर वर्तमान भू-खण्ड पर चला आया। अपने लगभग आठ दशक के जीवनकाल में यह सस्था इसी भू-खण्ड पर अपनी रजत-जयन्ती, स्वर्ण-जयन्ती, हीरक-जयन्ती तथा २००१ ई. में अपनी कौस्तुभ-जयन्ती भी मना चुकी है।

इस आश्रम में होम्योपैथी चिकित्सा सेवा के साथ साथ विशेष जाँच की सुविधायुक्त एलोपैथिक बाह्य चिकित्सा सेवा का भी प्रबन्ध है। उस सदर अस्पताल को छोड़कर पूरे शहर में इस तरह की सार्वजनिक व्यवस्था उस समय नहीं थी।

पूरे क्षेत्र में बच्चों के लिए प्राथमिक शिक्षा का सर्वथा अभाव देखकर सेवाश्रम प्रागण में ही एक विद्यालय की स्थापना हुई।

स्वामी ऋतानन्द एक सफल यशस्वी होमिओपैथ चिकित्सक थे। उनके द्वारा असाध्य रोगों का सफलतापूर्वक इलाज से विदेशी शासक वर्ग, ब्रिटिश कमिश्नर, जिलाधीश, सिविल सर्जन आदि भी इनके प्रशसक बन गए। जिले में बाढ़-सुखा, भूकम्प, महामारी आदि आपदाओं के प्रकोप होने पर निःसकोच वे लोग स्वामीजी से परामर्श करते और उनके नेतृत्व में राहत-कार्य का सचालन करते।

१९३४ ई. में भयानक भूकम्प आने पर रामकृष्ण मिशन के स्वामी निर्वाणानन्द जी, नित्यस्वरूपानन्द जी, सारदेशानन्द जी, वनविहारी महाराज, आदि वरिष्ठ संन्यासी अपने ब्रह्मचारियों तथा स्वयंसेवकों के साथ राहत-कार्य के लिए मुजफ्फरपुर आए थे। उन लोगों ने सेवाश्रम को ही अपना बेस-कैम्प बनाया। मुजफ्फरपुर व आसपास के जिलों में मिशन के विभिन्न राहत-कार्य यहीं से हुए थे। स्वामी ऋतानन्द जी ने इन सेवाकार्यों में काफी योगदान किया।

शहर में नेत्र-चिकित्सा का अभाव देख सन् १९४६-४७ में स्वामीजी ने अन्तिम ब्रिटिश गवर्नर लॉर्ड रदरफोर्ड के हाथों सेवाश्रम में आँखों के अस्पताल के निर्माण हेतु नींव डाली थी और स्वाधीन भारत में बिहार के प्रथम राज्यपाल महामहिम श्री एम.एस अणे ने सन् १९४८ में इस सेवा का उद्घाटन किया। इसमें ऑक्सीजन-बैंक की भी स्थापना हुई थी। उनके सेवा-कार्यों से प्रभावित होकर भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने विदेश से दानस्वरूप प्राप्त एक एक्स-रे-सयत्र भी सेवाश्रम को उपलब्ध कराया था।

स्वामीजी ने कच्चीसराय मुहल्ले में एक भूखण्ड पर भवन बनवाकर आसपास के गरीब बच्चों के लिए एक सेवा-केन्द्र का सचालन किया। इसमें भी उन्होंने होम्योपैथी, बाह्य चिकित्सा, गरीब महिलाओं के कल्याणार्थ केन्द्रीय समाज-कल्याण-बोर्ड के सौजन्य से निःशुल्क शिल्प-कला प्रशिक्षण, एक्स-रे क्लीनिक तथा सांध्य बाह्य-नेत्र-चिकित्सा की व्यवस्था की थी।

कुछ वर्ष पूर्व धर्मप्राणा श्रीमती उर्मिला बैनर्जी ने इसी शहर के अत्यन्त व्यस्त तथा महँगे इलाके, बैंक रोड पर स्थित अपना जमीन तथा मकान सेवाश्रम को दानस्वरूप दिया था। इस दूसरे सेवा-केन्द्र में भी होम्योपैथी-चिकित्सालय चलाया जा रहा है।

सेवाश्रम में नियमित रूप से वार्षिकोत्सव तथा बीच बीच में विशेष सम्मेलन आयोजित हुआ करते थे। इन आयोजनों में बिहार के प्रथम मुख्यमंत्री डॉ. श्रीकृष्ण सिंह, वित्तमत्री डॉ. अनुग्रह नारायण सिंह, डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा, श्री तुषारकान्ति घोष, श्री मन्मथनाथ मुखर्जी आदि विशिष्ट व्यक्ति पधारकर अपनी गरिमामय उपस्थिति से कार्यक्रमों की शोभा बढ़ाते थे। १९५६ में आयोजित एक विशेष सम्मेलन में देश के उपराष्ट्रपति डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् भी विशिष्ट अतिथि के रूप में उपस्थित हुए थे। उस कार्यक्रम को आकाशवाणी ने बारम्बार प्रसारित किया था।

१९६६ ई. में स्वामी ऋतानन्द जी के ब्रह्मलीन हो जाने के बाद स्वामी असीमानन्द जी ने आश्रम के संचालन का भार लिया तथा इसे सुगठित करके दृढ़ता तथा विस्तार प्रदान किया।

वर्तमान सेवाश्रम की जमीन बाबू लक्ष्मीनारायण तिवारी ने दान में दी थी। वे आश्रम के प्रारम्भ से ही और उनके दिवंगत हो जाने पर उनके सुपुत्र बाबू मदनमोहन तिवारी और उनके कनिष्ठ भ्राता श्री कृष्णमोहन तिवारी हर प्रकार से सेवाश्रम को अपना सहयोग देते रहे। श्री कृष्णमोहन तिवारी निवर्तमान प्रशासी मण्डल के सक्रिय सदस्य एवं रामकृष्ण मिशन में विलय के प्रयास में उत्साही रहे हैं।

मूलतः कलकत्तानिवासी और वीरगंज (नेपाल) के जमींदार बाबू हरिपद मैत्र, उनका समस्त परिवार विशेषकर उनके ज्येष्ठ पुत्र बाबू गोपाल कृष्ण मैत्र का सेवाश्रम की गतिविधियों के विस्तार में विशेष योगदान रहा है। बाबू हरिपद मैत्र ने १९३४ ई. में भूकम्प के पूर्व सेवाश्रम के दुमंजिले भवन का निर्माण कराया था, जो आज भी आपके समक्ष विद्यमान है। उनका नैतिक तथा आर्थिक सहयोग अवर्णनीय है। सेवाश्रम का आँख-अस्पताल, जिस भूखण्ड पर स्थित है, वह श्री गोपालकृष्ण मैत्र से ही दानरूप में प्राप्त हुआ था।

श्री उमाशंकर प्रसाद (बच्चा बाबू), जिला इंजिनीयर उमाशकर जायसवाल, श्री सारदाप्रसाद सिन्हा, श्री राधिकारमण, सहायक जिलाधीश कष्टमजी, प्रो. कामताचरण श्रीवास्तव, डॉ. वी.वी. मुखर्जी, श्री राधिकारमण टण्डन, श्री अरुण कुमार बोस आदि इस नगर के वे गणमान्य लोग हैं, जो प्रारम्भ से ही सेवाश्रम से जुड़कर अपना सहयोग देते रहे।

स्वामी असीमानन्द जी की अध्यात्मिक आभा से मुग्ध होकर बाद में स्वामी प्रबुद्धानन्द आदि ने सेवाश्रम में योगदान दिया। श्रीमत् स्वामी असीमानन्द जी ने श्रीरामकृष्ण देव के भव्य मन्दिर के निर्माण का सकल्प लिया था। ३० जनवरी सन् १९८३ ई. को रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना के सचिव श्रीमत् स्वामी वेदान्तानन्द जी ने इस मन्दिर की नींव डाली। मन्दिर का कार्य सुचारु रूप से चल रहा था। १५ मार्च १९८४ ई. को सहसा हृदयाघात से स्वामी असीमानन्द जी रामकृष्ण लोक को प्रस्थान कर गए। ऐसे विषादमय वातावरण में रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, पटना के स्वामी शक्तिदानन्द जी ने यहाँ आकर हम लोगों को सान्त्वना प्रदान की तथा कर्तव्य-बोध कराया। पुनः सब कुछ सुचारु रूप से चलने लगा। मन्दिर-निर्माण में बहुत-से लोगों ने सहयोग किया, जिनमें प्रमुख हैं - श्री कामेश्वर मिश्र, श्री यू.सी. पांडेय, श्री संजीव गुप्ता, श्री विमल विश्वास, डॉ. ज्योतिष रजन साहा, आर्कीटेक्ट इजीनीयर श्री अभय कुमार चक्रवर्ती और डॉ. अनिल बरन मजूमदार आदि।

सेवाश्रम के प्रशासी मण्डल तथा सामान्य सभा में भी जब यह विचार रखा गया कि 'रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ में अन्तर्हित होने पर ही इस सेवाश्रम का भविष्य सुरक्षित रहेगा' तो दोनों निकाय इस प्रस्ताव पर सहमत होकर इसके लिए प्रयास में जुट गए।

नवनिर्मित रामकृष्ण मन्दिर की प्राण-प्रतिष्ठा रामकृष्ण मठ के महाध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज के कर-कमलों द्वारा ४ अप्रैल, १९६० ई. को सम्पन्न हुआ। इस समारोह में रामकृष्ण सघ के स्वामी लोकेश्वरानन्द जी, स्वामी स्मरणानन्द जी, स्वामी सत्यरूपानन्द जी, स्वामी निखिलात्मानन्द जी एव अन्यान्य केन्द्रों के अनेक वरिष्ठ साधुओं की उपस्थिति से सेवाश्रम धन्य हो गया था। परमपूज्य प्रेसीडेंट महाराज ने अपने सम्बोधन में कहा था कि इसके बाद बेलूड़ मठ से कई वरिष्ठ साधु यहाँ समय समय पर आते रहेंगे और कालान्तर में रामकृष्ण मिशन इसे अपने में अन्तर्हित करने का निर्णय ले सकता है। सेवाश्रम में समय समय पर दीक्षा का आयोजन भी होने लगा। उसमें बेलूड़ मठ के तत्कालीन सह-अध्यक्ष परमपूज्य स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज, स्वामी गहनानन्द जी महाराज तथा स्वामी आत्मस्थानन्द जी महाराज ने कृपापूर्वक यहाँ आकर धर्मपिपासुओं को मत्रदीक्षा प्रदान करके उन भाग्यवान लोगों पर अपनी कृपावर्षण से उन्हें धन्य किया था।

२००१ ई. के अप्रैल में जब सेवाश्रम ने अपने ७५ वर्ष पूर्ति के उपलक्ष्य में प्लैटिनम-जयन्ती मनाया, उसी समय महासचिव स्वामी स्मरणानन्द जी महाराज ने सेवाश्रम को रामकृष्ण मिशन में अन्तर्भुक्त करने का संकेत दिया था। फिर सितम्बर, २००२ में जब बेलूड़ मठ के सहाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी आत्मस्थानन्द जी महाराज यहाँ दीक्षा देने आए, तो ९० वर्षीय श्री बी.बी. मुखर्जी ने उनसे कातर स्वर में कहा - शायद मैं अपने जीवन काल में सेवाश्रम का रामकृष्ण मिशन में विलय न देख पाऊँ। महाराज ने सान्त्वना देते हुए कहा था - ऐसा न कहिए, हम सभी इसके लिए ठाकुर से प्रार्थना करेंगे। महाराज के मुख से अनायास ही निःसृत यह वाक्य ही उनका सम्बल बन गया। डॉ. मुखर्जी यह विलय भले न देख पाये, लेकिन इसकी सूचना उन्हें अपने जीवन-काल दिसम्बर २००२ में ही महासचिव महाराज के पत्र से मिल गयी थी। इस शुभ संवाद से वे बड़े हर्षित थे और इसके तत्काल बाद ही उन्होंने आश्रम की प्रशासी मण्डल की सभा बुलाकर बेलूड़ मठ के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की थी।

'रामकृष्ण-विवेकानन्द सेवाश्रम' अब से 'रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम' के नाम से परिचित होगा और बेलूड़ मठ की एक शाखा के रूप में संचालित होगा।

❑❑❑